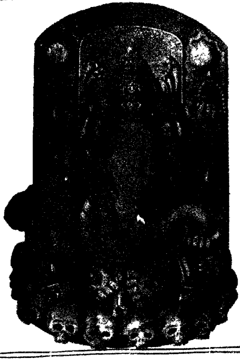
वर्ष ३४ अंक ४

धर्म

अप्रैल १९५३



जावामें प्राप्त गणेशमूर्ति

(जावा स्थित 'सिंगासन' [सिंहासन] ग्रामके मन्दिरमें स्थित गणेशकी मूर्तिका यह चित्र है।)

चैत्र २०१०

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

वैदिकधर्म

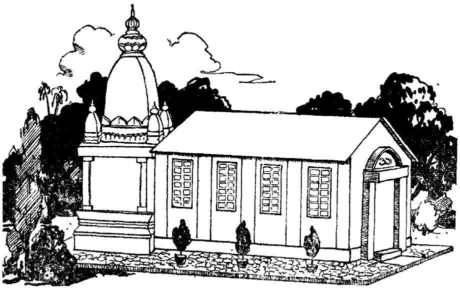
सहसंपादक
महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके ६॥) रु.

विषयानुक्रमणिका

१	अभ्युदय	—सम्पादकीय	९७
२	भारतीय संस्कृतिका स्वरूप (लेखाङ्क २८-२९)	—पं. श्री. दा. सातवलेकर	९८
३	ब्रह्मपारायण यज्ञ	—श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज	१०५
४	ब्रह्मपारायण यज्ञकी शास्त्रीयता	—श्री पं. वीरसेनजी	११०
५	ब्रह्मपारायण यज्ञ	—श्री पं महेशचन्द्र शास्त्री	११५
६	आर्य विद्वानोंकी सम्मतियाँ		११०
७	दिव्य जीवन (श्री अरविन्द) अध्याय ४ से ५	—अनु चन्द्रदीप	१२१
८	वैदिक राष्ट्रगीत (व्याख्यान १)	——पं. श्री. दा. सातवलेकर	१ से १६

वेदमंदिरके लिये सहाय्य देनेवालोंका नाम



,, अखिल भारतीय आर्य (हिंदु)
धर्म सेवा संघ देहली रु. १०००
श्री मे. भोगीलाल चुनीलाल अमदावाद ,, ५०१
,, रमणीकलाल चुनीलाल ,, ,, ५०१
,, पू. स्वामी शंकर भूमानंदतीर्थ स्वामीके लिए
श्री परमहंस स्वामी आनंदारण्य द्वारा माथक ५०१
,, परभुदास किशोरदास पटेल अमदावाद रु. ३५१
,, अनंत सखाराम वणीकर ,, ,, ३००
,, चुनीलाल व्रिजभुखणदासकी
पुत्रीयां ललीताबहेन आदि द्वारा २५१
श्री. वृजभूषण दास कंसारा नवसारी ,, २०१
,, मणीलाल सामळदास अमदावाद २०१
,, शेठ श्री गोरधनदास बलसुखराम
अमदावाद ,, २००
,, ,, रतिलाल नाथालाल
तथा-कान्तिलाल नाथालाल ,, ,, १५१
,, जगमोहनदास, स्टांडर्ड पेपर कं. मुंबई ,, १५१

श्री पं. शिवकुमारजी महेशदत्त
शुक्ल बलसाड [वीटां ६०००] रु. ११५
स्व पं. चंद्रकान्तजी वेदवाचस्पति के
पुनीत स्मरणार्थ उनके पिता पं. नर्मदा-
शंकर त्रिवेदी जिज्ञासु द्वारा ,, ११५
,, प्रेमचंदभाई रणछोडदास पटेल अमदावाद ११५
,, केशवलाल जमनादास अमदावाद ११५
श्री हरि पंढरीनाथ बहिरट पंढरपुर ,, १०१
,, प्राणलाल भीखाभाई अमदावाद रु. १०१
,, विधिचन्द्र गुप्ता आगरा ,, १०१
,, गोरधनदास नाथालाल पटेल अमदावाद १०१
,, अमदावादी एक सज्जन अमदावाद १०१
,, शेठ रतनलाल अचरतलाल अमदावाद १०१
,, श्रीमती जीवीबेन उमेददास पटेल
अमदावाद ,, १००
श्री ज० र० धारपुरे पुणें ,, १००
श्री राजासाहेब ऑफ मिरज मिरज ,, १००

नाम		रु.	
,, शंकरलाल गीरधरलाल पंचाल	अमदावाद	,,	१००
,, माधव रामचन्द्र ओके	अमलनेर	,,	१००
,, आर्या रुगनाथ माधवजी तथा उनकी धर्मपत्नी मोंघीबाई दीवेचा	दीवबंदर	,,	१००
,, रा० बा० चीमनलाल दलपतराम कवि	अमदावाद	,,	५१
,, बंधु देवदत्त कमलाधर जाधव के पुनीत स्मरणार्थ बहिन कु. इन्दिराबाई द्वारा	इन्दोर	,,	५१
श्री ट्रस्टी श्रीमगनीराम रामकूवर ,, बंगुर चेरिटेबल ट्रस्ट,	कलकता. २	,,	५०
श्री दिवाकर श्रीधर शार्ङ्गपाणी,	बडौदा	रु.	५०
श्री श्री० रा० टिकेकर,	मुंबई ४	,,	५०
,, रणछोडलाल वरजलाल	अमदावाद	,,	५०
,, विठलजी हरजी	Kisumu	,,	५०
,, मणीशंकर परसोत्तमदास	अमदवाद	,,	३०
,, रा० ब० चन्द्र विद्यानंद,	सूरत	,,	२५
श्री वि. वि. जोशी, वकील	गंगावेश, कोल्हापूर	,,	२५
श्री शंकर वामन जोशी,	पुणें-२	,,	१७
सौ० इन्दूमति उर्फ सुमन शिवराम मराठे	बडौदा	,,	१५
,, महादेव बालकृष्ण आप्टे	बडौदा	,,	१५
श्री वीरेन्द्र प्रसाद महादेविया	मुंबई	,,	११
,, र. न. पंडित	बेळगाव		११
श्री य० ना० पित्रे,	जोगेश्वरी-मुंबई	,,	१०
श्री गणपतभाई नाथुभाई चांपानेरीआ	मढी, T. V. Rly	,,	१०
श्री रघुनाथ बापुजी फडके	पूणें २	,,	१०
,, पुसदके एक सद्‌गृहस्थ		,,	१०
,, पारडीके एक सद्‌गृहस्थ		,,	१०
,, माधव पुरुषोत्तम जोशी	पुणें	,,	१०
,, रामचन्द्र नारायण कुलकर्णी	कोल्हापुर	,,	१०
४२ श्री आदित्यराम कालीदास उपाध्याय	सारींग	,,	१०
श्री जयराम प्रपन्न रामानुजदास	कोचेडगा	,,	१०

नाम		रु.	
श्री भुषणगुप्त	बांदीकूई	,,	१०
,, कानजीभाई हंसराय पटेल	नवसारी	,,	१०
श्री शंकर बाळकृष्ण भिडे.	पुणें-२	,,	५
श्री विष्णु रामकृष्ण करकरे,	नाशिकरोड	,,	५
श्री त्रिं० या० डेहनकर,	बिलासपूर	,,	५
श्री सुगुरसेट्टी सुगरप्पा	बेल्लारी	,,	५
सौ. कमला कुंजविहारी तळपदे	मुंबई	,,	५
श्री जयराम आदित्यराम उपाध्याय	सारींग	,,	५
,, भास्कर विश्वनाथ कुंठे	यवंतमाल	,,	५
,, रमेशचन्द्र आर्य	छिंदवाड़ा	,,	५
,, दामोदर वामन कुलकर्णी	शिराळा		३
,, गो. गो. इनामदार	पुणें- २	,,	२
,, बलदेव नरोत्तम	,,	,,	२
,, शरद्‌चद्र महाशंकर उपाध्याय	,,	,,	२
,, पा. रणछोडदास भगवानजी	,,	,,	२
,, अंबालाल कालीदास व्यास	,,	,,	२
,, मुळजीभाई नाथाभाई	,,	,,	२
,, सोमेश्वर नाथाभाई	,,	,,	२
,, गीरधरलाल भाईचंद	,,	,,	२
,, नाथाभाई कालिदास मिस्त्री	,,	,,	२
,, नटवरलाल बळदेव ठाकर	,,	,,	२
,, रघुनाथ विठुजी चिंचलकर	तळणीं	,,	२
,, सी० ता० कंदरगांवकर	पुणे-२	,,	१
गुप्तदान		,,	१
,, जीभाई भगवानदास ठाकर	,,	,,	१
,, लल्लुभाई मोरारभाई पटेल	,.	,,	१
,, अंबालाल जीभाई पटेल	,,	,,	१
,. पा० मगनभाई लल्लुभाई	,,	,,	१
,, हरिभाई शामजीभाई शाह	,,	,,	१
,, शिवशंकर जयशंकर	,,	,,	१
,, बाई रुक्ष्मणी बहिन	,,	,,	१
,, श्रीधर वि० दातार सतना	,,	,,	१
,, श्री. डी. प. गंगोली	कोपरगाव		१

ता. २८।३।५३ पर्यंत जमा एकूण रु. ७७०१

श्री. दा. सातवळेकर

अध्यक्ष-स्वाध्याय मंडळ, आनंदाश्रम, पारडी (जि. सूरत)

संस्कृत भाषा-प्रचार समितिके

हमारे प्रमाणित प्रचारक

नाम	प्रान्त
१ श्री टी. कुमार स्वामी.	हैद्राबाद
२ ,, जयवंतराव देशपांडे	,,
३ ,, निलकंठ देवचंद झांबरे	मुंबई
४ ,, धर्मेन्द्र मदनलाल मास्तर (मधुरम्) M. A.	गुजरात
५ ,, जयंतिलाल भगवानदास शाह B. A., S. T. C.	,,
६ ,, हरिकृष्ण ईश्वरलाल व्यास B A.	,,
७ ,, रसिकलाल नानालाल महेता B. A., B. T.	,,
८ ,, शान्तिलाल वजेराम उपाध्याय B. A., L. L. B.	,,
९ ,, वैकुंठलाल चुनीलाल देसाई S. T. C	,,
१० ,, छगनलाल गिरधरलाल नेस्ती	,,
११ ,, कृष्णलाल माणेकलाल व्यास	,,
१२ ,, नटवरलाल ठाकोरलाल पटेल	,,
१३ ,, ईश्वरभाई गीरधरभाई पटेल	,,
१४ ,, मुकुन्द विठ्ठल देशपांडे	मध्यप्रदेश
१५ ,, चंद्रकान्त फूलाराम उपाध्याय	गुजरात
१६ ,, मधुकर रामदास जोशी	मध्य प्रदेश
१७ ,, गंगाधर बाळकृष्ण कुलकर्णी	,,
१८ ,, गोविंद अंबादास जामकर B. A.	,,
१९ ,, परमानन्द काशीराम भट्ट B. A. S. T C.	गुजरात
२० ,, पुरुषोत्तम गोविंद कुलकर्णी	हैद्राबाद
२१ ,, पुरुषोत्तम जेठालाल शाह B. S C.	गुजरात
२२ ,, जशवंतराय रतिलाल महेता B. A.	,,.
२३ ,, पंड्या मधुसूदन शान्तिलाल B SC.	,,
२४ ,, माणेकलाल हीरालाल पाछीआपरवाला	,,
२५ ,, जगुभाई बाबाभाई पटेल ' विशारद '	,,
२६ ,, ओ. वी वेदरामन	हैद्राबाद
२७ ,, पं. जगन्नाथ बातल	काश्मीर
२८ ,, शांतिलाल मोहनलाल त्रिवेदी साहित्य शास्त्री	गुजरात
२९ ,, देवीदास भुराभाई पटेल	,,
३० ,, पृथ्वीनाथ हाँगलू	काश्मिर
३१ ,, पुरुषोत्तम गोवर्धनराम उपाध्याय साहित्याचार्य	गुजरात
३२ ,, मधुकर सांबजी जोशी शास्त्री	मध्य प्रदेश
३३ ,, बाळाचार्य अण्णाचार्य शास्त्री	हैद्राबाद
३४ ,, रघुनाथ भवानराव बिनीवाले B. A.	मध्य प्रदेश
३५ ,, महादेव रामचद्र साकोरे B. A., L. L. B.	,,
३६ ,, गंगाधर दत्तात्रय गाडगीळ B. A.	,,

आवश्यक सूचना

१- गत जन-फरवरी १९५३ ई. की परीक्षाओंका परीक्षा फल ता० २४ मार्च १९५३ ई. को प्रकाशित किया जा चुका है।

२- प्राप्ताङ्क सूची- जो उत्तीर्ण परीक्षार्थी अपने अलग अलग प्रश्नपत्रोंके प्राप्ताङ्क मंगाना चाहेंगे उन्हें चार आने शुल्क भेजना होगा। अनुत्तीर्ण परीक्षार्थियोंसे भी शुल्क लिया जाएगा।

३- पुनर्निरीक्षण- जो अनुत्तीर्ण परीक्षार्थी अपनी उत्तर पुस्तकोंका पुनर्निरीक्षण करवाना चाहें उनको परीक्षाफल प्रकाशन तिथिसे २० दिनके अन्दर प्रत्येक उत्तर पुस्तकके लिये आठ आना निरीक्षण शुल्क भेजते हुए अपना पूरा नाम, क्रमसंख्या और प्रश्नपत्र संख्या देकर प्रार्थना पत्र भेजना चाहिये।

निरीक्षणमें केवल इतना ही देखा जाएगा कि प्रत्येक प्रश्नके अंक दिये गये हैं या नहीं।

४- प्रमाणपत्र- गत परीक्षाके उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंके प्रमाणपत्र ३० अप्रैल तक केन्द्रव्यवस्थापकोंके पास समिति कार्यालय पारडी द्वारा भेज दिये जायेंगे।

विशारदका पदवीपत्र भी अन्य प्रमाणपत्रोंके साथ ही भेज दिया जाएगा।

५- प्रमाणपत्र वितरण- प्रमाणपत्र प्राप्त होनेके पश्चात् केन्द्रव्यवस्थापक महानुभाव लगभग १५ दिनके अन्दर इन्हें एक अच्छे समारम्भके आयोजनके साथ उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंमें वितरित करेंगे।

जो उत्तीर्ण परीक्षार्थी बिना सूचना दिये प्रमाणपत्र वितरणोत्सवमें सम्मिलित होकर प्रमाणपत्र न लेंगे, उनको बादमें प्रमाणपत्र प्राप्त करनेके लिये केन्द्रव्यवस्थापकके पास चार आने जमा करने होंगे। -

वेदोंकी संहिताएँ

	मू	डा व्य.
(१) ऋग्वेद (इसमें सर्वानुक्रम, देवतासूची, ऋषिसूची, मंत्रसूची आदि भी है।)	१०	१॥
(२) यजुर्वेद (वाजसनेयी--संहिता)	३	॥
(३) ,, काण्व--संहिता	४	॥।
(४) ,, मैत्रायणी-संहिता	६	१
(५) ,, काठक--संहिता	६	१
(६) ,, सर्वानुक्रम सूत्र (वाजस०)	१॥	॥
(७) ,, वा० सं० पादसूची	१॥	॥
(८) ऋग्वेद मंत्रसूची	२	॥

सामगान

सामवेद कौथुम शाखीय

	मू.	डा. व्य
ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः प्रथमः तथा द्वितीयो भागः	६	१
प्रकृति गान (गान भाग)	५	॥

दैवत संहिता

	मू.	डा. व्य
दैवत संहिता प्रथम विभाग	६	१॥
१ अग्नि देवता मंत्र २४४३ पृ. सं. ३४६		
२ इन्द्र देवता ,, ३३६३ ,, ३७६		
३ सोम देवता ,, १२६१ ,, १५०		
४ मरुद्देवता ,, ४६४ ,, ७२		
दैवत संहिता तृतीय भाग	६	॥।

(इस तृतीय भागमें कुल १२८ देवता हैं और मंत्र सख्या २७५८ है।)

हिंदी पुस्तकें

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

१ से १८ ऋषिका दर्शन (एक जिल्द)

(१) मधुच्छन्दा, (२) मेधातिथि, (३) शुनःशेप (४) हिरण्यस्तूप, (५) कण्व, (६) सव्य, (७) नधा, (८) पराशर, (९) गोतम, (१०) कुत्स, (११) त्रित, (१२) संवनन, (१३) हिरण्यगर्भ, (१४) नारायण, (१५) बृहस्पति, (१६) वागाम्भृणी, (१७) विश्वकर्मा, (१८) सप्त ऋषि. रु २१॥, १॥]

(१९) वशिष्ठ ऋषिका दर्शन, ७ रु.) डा व्य १॥

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

			मू	डा व्य
१	प्रथम	अध्याय श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१॥	।=
	३० वा	,, मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन	२	।≡
३	३२	,, एक ईश्वरकी उपासना	१॥	।=
४	३६	,, सच्ची शातिका सच्चा उपाय	१॥	।=
५	४०	,, ईशोपनिषद्	२	।=

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

काण्ड	१–५	८ रु	१॥
,,	६–१०	८	१॥
,,	११–१८	१०	१

उपनिषद् ग्रंथमाला

	मू.	डा. व्य
१ ईशोपनिषद्	२	॥
२ केन उपनिषद्	१॥	॥
३ कठ उपनिषद्	१॥	॥
४ प्रश्न उपनिषद्	१॥	॥
५ मुण्डक उपनिषद्	१॥	॥
६ माण्डूक्य उपनिषद्	॥	=

साक्षात्कार ग्रंथ

ईश्वरका साक्षात्कार प्रथम भाग	३	॥=

श्रीमद्भगवद्गीता

भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी (टीका समेत)		
,, तीन पृथक् जिल्दोंमें	१५	१॥
,, एक जिल्दमें	१२॥	१॥
,, श्लोकार्ध सूची	॥।	।=
भगवद्गीता लेखमाला भाग १, २, ७	३॥।	१
गीताका राजकीय तत्वालोचन	२	॥
गीता कर्मयोगी गणेशानन्दजी कृत	१	।=
भगवद्गीता छोटी पुस्तक	१	।=

वाल्मीकि रामायण

१ बालकांड	४	॥=
२ अयोध्या कांड पूर्वार्ध	४	॥=
३ ,, ,, उत्तरार्ध	४	॥=
४ अरण्यकांड	४	॥=
५ किष्किन्धाकाण्ड	४	॥=
६ सुन्दरकांड	४	॥=
७ युद्धकांड छप रहा है।		

मन्त्री- स्वाध्याय-मंडल, भारतमुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी, (जि सूरत)

वर्ष ३४ **वैदिक धर्म** अंक ४

क्रमांक ५२

▲ चैत्र, विक्रम संवत् २०१०, अप्रैल १९५३ ▲

अभ्युदय

ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि।
वाजो अस्माँ अवतु वाजसातौ इन्द्रेण युजा तरुषेव वृत्रम् ॥

ऋ० ७।४८।२

(ऋभुभि ऋभुः स्याम) कारीगरोंके साथ रहकर हम कारीगर बनेंगे, (विभुभि. विभ्वः) वैभवयुक्तोंके साथ रहकर वैभवयुक्त बनेंगे, (शवसा शवांसि) बलवान्‌के साथ रहकर नाना प्रकारके बल प्राप्त करेंगे, (वाजसातौ वाज. अस्मान् अवतु) युद्धके समय बल हमारा संरक्षण करे। (इन्द्रेण युजा वृत्रं तरुषेम) इन्द्रके साथ रहकर हम शत्रुका नाश करेंगे।

जो अपना अभ्युदय चाहते हैं, वे बलवानों, वैभवसंपन्नों और कारीगरोंके साथ रहें और बलवान, वैभव युक्त और कुशल कारीगर बनें। जो ऐसे बनेंगे वेही अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे अभ्युदय संपन्न वीर पुरुष अपने शासकके साथ रहकर अपने शत्रुको दूर कर सकते हैं और अपने राष्ट्रको निर्भय बना सकते हैं।

▲▲▲

भारतीय संस्कृतिका स्वरूप

[लेखाङ्क २८]

(लेखक— पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

● ● ● ● ● ● ●

गृहस्थधर्म ही श्रेष्ठ है

प्रवृत्ति-निवृत्ति का भ्रम

भारतवर्षमें बुद्धोत्तर कालके पश्चात् प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें एक बडा भ्रम उत्पन्न हो गया है और यह भ्रम सारे हिन्दुओंके मनोंपर छा गया है। सन्तोंने भी इस भ्रामक वृत्तिका माहात्म्य बढा दिया है। यही कारण है कि आज यह भूत सबके सिरपर चढ गया है और हिन्दुजातीके उद्धार-मार्गमें रुकावटें पैदा होगई हैं।

कोई कपडे पहनना छोड देता है और कपडोंका व्यवहार कम करते करते लंगोटीतक आपहुँचता है। बहुतसे तो इससे भी आगे बढ जाते हैं और बिल्कुल नग्न रहने लगते हैं। वस्त्रत्यागको निवृत्तिका लक्षण मान लेनेके कारण जो जितना अधिक वस्त्रत्याग करता है उसे समाजके द्वारा उतना अधिक मान मिलता है। यही कारण है कि आज लंगोटीवालेका सन्मान अधिक है और जो दिगंबर हैं उनका तो और भी अधिक। जनतामें आज यह कितना बडा भ्रम व्याप्त है! इस कारण आज कोई यह जानना भी आवश्यक नहीं समझता कि उस लंगोटीवालेमें या दिगंबरमें कुछ ज्ञान है या नहीं। जनताका सारा ध्यान केवल इसी ओर केन्द्रित रहता है कि उसने कपडे कितने कम पहने हैं। वास्तवमें देखा जाय तो कपडोंके इस कम या अधिक व्यवहारके साथ सन्तपनेका कोई सम्बन्ध नहीं है।

संसार त्याग असम्भव

कुछ लोग विरक्त होकर घरका त्याग कर देते हैं, किन्तु वनमें जानेपर अथवा भटकते रहनेपर भी संसारका त्याग नहीं हो पाता। यह बात इनके ध्यानमें नहीं आती। जिस प्रकार नगर अथवा ग्राममें संसार रहता है उसी प्रकार वह वनोंमें और जंगलोंमें भी रहता है। जबतक शरीर है तबतक संसारका त्याग सम्भव नहीं है। गृहत्याग या बाल बच्चोंका त्याग, करनेका अर्थ तो यह हुआ कि हमने अपने कर्तव्यका त्याग किया। इस बातपर सभीको विचार करना चाहिये। मनुष्यके पीछे कर्तव्य तो लगा ही है। उसका त्याग करनेपर उन्नतिकी आशा व्यर्थ है। मनुष्यको अपने कर्तव्योंका पालन भलिभांति करना ही चाहिये। किन्तु उनका परित्याग करना सन्तत्व है, इस प्रकारके विचार ही आज सर्वत्र दिखाई पडते हैं। इसी कारण आज बैरागी, उदासी आदि लाखों लोग भूभार बनकर हिन्दुस्थानमें घूमते हुए दिखाई पड रहे हैं। भिक्षा मांगना और स्वेच्छापूर्वक घूमना सन्तत्वका लक्षण नहीं है।

दोपहरकी भूख

मनुष्य घरमें रहे अथवा वनमें, उसे दोपहरकी भूख लगती ही है। उससे उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। गृहस्थी लोग अपनी भूखका निवारण अपने प्रयत्नों द्वारा करते हैं किन्तु— ये वैरागी और उदासी लोग अपनी भूखका निवारण करनेके लिये दूसरोंको कष्ट पहुँचाते रहते है। अपनी भूखका निवारण दूसरोंके प्रयत्नसे हो, यह निर्बलता है। इस प्रकारके दुर्बल वैरागियोंकी संख्या आज भी भारतमें लगभग एक करोड है। इतनी बडी जनसंख्या जिस देशमें स्वयंकी भूखका निवारण नहीं कर सकती और इसके लिये सर्वथा दूसरोंपर ही अवलम्बित रहती है उस देशकी उन्नति किस प्रकार हो? यह एक विकट समस्या ही है। ऐसे लोगोंका इस देशमें सन्मान होता है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। इस राष्ट्रव्यापी भ्रान्तिकी यह पराकाष्ठा है।

नाहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्

' मैं दूसरेसे बनाया हुआ भोजन नहीं करूंगा ' मैं अपने

प्रयत्न द्वारा प्राप्त करूंगा और अपनी भूख मिटाऊंगा। वैदिक कालके ऋषियोंके ये विचार हैं। इन वैदिक ऋषियोंकी तुलना आजके वैरागियोंसे करनेपर यह विदित हो जाएगा कि कौन सच्चा सन्त है और कौन भूभार बना हुआ है।

सारा जगत् क्षणभङ्गुर है, दुःखमय है, बन्धनकारक है आदि विचार जैन और बौद्धोंके हैं। इस कारण उसका परित्याग करके यति धर्मका पालन करनेका सिद्धान्त उन्होंने स्वीकार किया। किन्तु उन्होंने इस ओर ध्यान न दिया कि कुछ भी करनेपर इस संसारसे सम्बन्ध तोडना सम्भव नहीं है। संसारका त्याग मनुष्य जबतक जीवित है तबतक सम्भव ही नहीं, इस बातको वे समझ ही न पाये।

घर छोड देनेपर, बच्चोंको छोडदेनेपर और भिक्षावृत्तिसे जीवन बितानेपर संसारका त्याग हो जाता है, यह भ्रामक कल्पना इनमें काम करने लगी। वास्तवमें यह कल्पना राष्ट्रीय विपत्तिको बढानेवाली कल्पना है। उपर्युक्त त्यागकी कल्पनाके समान वस्त्रोंका त्याग, सामाजिक कार्योंका त्याग आदि विचार भी भ्रान्त विचारसरणीके ही द्योतक हैं और इसीलिये वे अभ्युदयका सर्वथा घात करनेवाले हैं।

घरका त्याग, कर्मका त्याग और समाजके कार्योंका त्याग आदि जो भी कुछ त्यागके नामपर आज किया जाता है वह वास्तवमें त्याग नहीं है, सच्ची निवृत्ति नहीं है और सच्चा वैराग्य भी नहीं है। यह सब केवल भ्रान्त विचार सरणीका ही परिणाम मात्र है।

अर्जुनकी साक्षी

गीताके प्रारम्भमें ही अर्जुन कहता है कि 'मैं भिक्षा मांगकर उदर निर्वाह करूंगा, मैं युद्ध करके राज्य प्राप्ति करूं और इसका शासन करूं, ऐसी झंझट भी मुझे पसंद नहीं है' किन्तु अर्जुनके इस कथनका श्रीकृष्णने प्रतिरोध किया है और उसे युद्ध करने एवं राज्यशासन चलानेके लिये प्रोत्साहित किया है। क्योंकि संसारका त्याग जीवित अवस्थामें सम्भव ही नहीं है। तब फिर भ्रान्त व्यक्तिके समान संसारत्यागकी भाषा बोलनेसे क्या लाभ?

जिन्होंने इस संसारको दुःखकारक माना उन्हींने इसका परित्याग करनेकी भाषाका भी प्रयोग शुरू किया। साधुसन्तोंने भी अंशतः इसी मतका प्रचार किया है तथा हरिकीर्तन एवं कथाकारोंने भी इसीका खूब प्रचार किया है। बौद्ध धर्मने यतिवृत्तिका प्रचार किया और वही आजतक हमारे समाजमें चला आरहा है।

वैदिक धर्ममें 'संसार क्षणभङ्गुर नहीं है और उसे दुःखदायक भी नहीं माना गया है।' 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यह समस्त विश्व ब्रह्मरूप है, ब्रह्म ही है, यह है हमारा सिद्धान्त। ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दमय है; अतः यह सम्पूर्ण विश्व भी सुखदायक ही है। यह ब्रह्मरूप होनेके कारण इसके त्यागका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जो ईश्वरसे भिन्न होगा उसका त्याग करना आवश्यक होगा, किन्तु जो ईश्वरका ही स्वरूप है वह क्यों और किसलिये छोडा जावे? यह है प्राचीन वैदिकविचार-सरणी। इसमें विश्वत्यागकी कोई बात ही नहीं है। विश्वमें हम किस प्रकारसे रहें, इसका विचार इस वैदिक धर्ममें है। 'विश्वत्याग' की तो इसमें भाषा ही कहीं नहीं मिलेगी।

विश्वमें जन्मग्रहण करना ब्रह्ममें प्रगट होनेके समान ही सुखदायी है; अतः उसका परित्याग नहीं करना है। यहाँ तो दीर्घजीवन प्राप्त करके आनन्दपूर्वक निवास करना है। विश्वकी सेवा करनी है और आनन्दकी प्राप्ति होनी है, अतः यहाँ दुःखका तो कोई कारण ही नहीं है। यदि हम किसी प्रकारकी अपूर्ण कल्पना करेंगे तो हमें दुःख होगा अथवा दुःखका आभास होगा किन्तु वास्तवमें यह विश्व आनन्दमय है! जैन और बौद्ध विचारसरणी इससे सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है। हमारे साधुसन्त एक ओर संसारको क्षणभङ्गुर भी मानते हैं तथा दूसरी ओर ईश्वरमय भी मानते हैं। यह तो एक प्रकारकी विचारोंकी संकीर्णता है। इस प्रकारकी यह विचारोंकी संकीर्णता होनेके कारण हिन्दुओंका मन किसी भी विषयमें एक निश्चय नहीं कर पाता।

जिस समय वैदिक विचार जागृत थे उस समय प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें कुछ भिन्न प्रकारकी ही विचारधारा थी। किन्तु इन शब्दोंद्वारा उस समय आजके अर्थोंसे कुछ भिन्न अर्थकी अभिव्यक्ति हुआ करती थी। इन शब्दोंसे वैदिक युगमें किस अर्थकी अभिव्यक्ति होती थी, इसपर अब विचार करेंगे—

उपनयन संस्कार

उपनयन संस्कारका उदाहरण लीजिये। उपनयन होनेसे

पूर्व लगभग आठ वर्षतक लडका चाहे जैसे रहे, चाहे जिस प्रकार स्वच्छन्द खेले कूदे, उसके इस प्रकारके खेल कूदसे मातापिता भी आनन्दित होते हैं। किन्तु ऐसी ही प्रवृत्ति मनुष्यके लिये हानिकारक सिद्ध नहीं होती; अतः इस प्रवृत्तिको दूर करके उसे अच्छे संस्कारोंकी ओर मोडनेकी दृष्टिसे इस उपनयन विधिका विधान है। इसके द्वारा उसे उच्च साधनमार्गकी प्राप्ति होती है तथा बालपनकी स्वेच्छाचारी प्रवृत्तिका त्याग होकर संयमसे प्राप्त होनेवाली निवृत्तिका अवलंबन वह बालक प्राप्त करता है। अर्थात् उपनयनके द्वारा असत् प्रवृत्तिसे निवृत्ति ही होती है। इस प्रकार उपनयनका यह निवृत्तिमार्ग ही है। क्या खाया पिया जावे, क्या अध्ययन किया जाय, किस मार्गका आचरण किया जाय, कौनसा विषय पढा जाय आदि विषयोंमें यहींसे अनुशासन प्रारम्भ होजाता था। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वेच्छाचारकी ओर हुआ करती है। यह प्रवृत्ति कम हो और वह श्रेष्ठ आचरण कर सके इसके लिये उसे उसकी स्वाभाविक हीन प्रवृत्तिसे निवृत्त करने तथा उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति सिद्ध करनेके उद्देश्यसे इस उपनयन द्वारा उसे निवृत्तिका ही मार्ग सिखाया जाता है।

विवाह संस्कार

इस प्रकारका यह वैदिक निवृत्ति मार्ग उपनयन संस्कारसे प्रारम्भ होता है। इसके पश्चात् विवाह संस्कार आता है। इसमें पति अपनी विवाहित पत्नीसे ही संबन्ध करे तथा अन्य स्त्रियोंको माता, बहन या पुत्रीके समान देखे इस प्रकारका उपदेश है। इस तरह यह भी एक प्रकारकी स्वेच्छाचारसे निवृत्ति ही मानी जाती है। गृहस्थाश्रम निवृत्ति मार्गका ही एक कदम है। स्वयंके भोगोंकी अभिवृद्धि न करके अतिथियोंका सत्कार करना, ब्रह्मचारी-वानप्रस्थी एवं संन्यासीकी सहायता करना तथा अन्य सार्वजनिक हितके कार्य-जैसे कुएं, तालाब आदि बनवाना-भी एक प्रकारका निवृत्ति मार्ग ही है। अर्थात् स्वार्थ और भोगोंसे निवृत्त होकर विश्वहितमें प्रवृत्त होनेका ही अनुष्ठान है। मनुष्यमात्रमें भोग भोगनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। उससे निवृत्त होकर विश्वहितकी साधना करना ही इसका ध्येय है। अर्थात् गृहस्थाश्रम भी इस रूपमें एक प्रकारसे निवृत्ति मार्ग ही है। यह निवृत्ति सर्वजनहितकारिणी निवृत्ति है। परमेश्वर विश्वरूप है, अतः विश्वहित करना भी ईश्वर सेवा ही है। इस वैदिक व्यवस्थासे इस प्रकार यह ईश्वरसेवा ही सिद्ध होती है। वैदिक धर्मकी वर्णाश्रम व्यवस्था इस रीतिसे सत्प्रवृत्ति उत्पन्न करके असत्प्रवृत्तिसे निवृत्तिका साधन ही बनती है।

किन्तु आगे चलकर इस सम्पूर्ण वैदिक धर्मको ही लोगोंने प्रवृत्ति मार्ग मानना शुरू कर दिया तथा समस्त संसारसे ही हम दूर रहें, इस प्रकारकी प्रवृत्तिको निवृत्ति मार्ग मानने लग गये!! जैन और बौद्धोंने इस प्रकारके संसार त्यागके निवृत्ति मार्गको खूब बढावा दिया। यही विचारप्रवाह आज समस्त जनतामें फैल गया है; किन्तु इससे मानवी मनकी अधोगति होती है: अतः यह त्याज्य है।

वैदिक व्यवस्थामें संन्यासमार्गका कोई बोलबाला नहीं था। क्वचित् कोई संन्यास लेता था और वह भी केवल ब्राह्मण वर्गमेंसे। वैदिक युगमें वसिष्ठ, वामदेव, अत्रि आदि ऋषि सब गृहस्थाश्रमी ही थे। याज्ञवल्क्य भी गृहस्थाश्रमी था। कई तो ऐसे थे जिनके एकसे अधिक स्त्रियां थीं। वैदिक देवता भी स्त्रियोंको साथमें लेकर घूमा करते थे। इन्द्रके साथ इन्द्राणी, वरुणके साथ वरुणानी, अग्निकी आग्नेयी इस प्रकार सबके स्त्रियाँ थीं। सायुध एवं सशक्तिक देवताओंका आह्वान वैदिक ऋषि किया करते थे और स्वयं भी वे उसी प्रकारसे सायुध एवं सशक्तिक रहा करते थे।

वैदिक अथवा पौराणिक देव प्रायः सभी सपत्नीक थे। वैदिक ऋषि भी संसारी बनकर ही रहा करते थे। इनमें बुद्धोत्तर कालके यतियोंकी तरह कोई भी संसारका त्याग करनेवाला नहीं था। इस संसारमें असत् प्रवृत्तिसे निवृत्ति और सत्कार्यकी ओर प्रवृत्ति करानेका ही उद्देश्य वैदिक धर्मका था।

संसारका त्याग, बालबच्चोंका त्याग, राष्ट्रका त्याग, सार्वजनिक कार्यका त्याग, अपने ऊपरके उत्तरदायित्वका त्याग आदि त्यागोंकी कुकल्पना उस समय उत्पन्न ही नहीं हुई थी।

इस पृथ्वीपर स्वर्गधामकी रचना करना एवं आनन्द पूर्वक रहना तथा मरणोत्तर भी सुख प्राप्त करना वैदिक धर्मकी विशेष योजनायें थी और इन्हींको सफल बनानेके लिये जीवनके कार्यक्रम उपर्युक्त प्रकारसे निर्धारित किये जाते थे।

वैदिक ऋषियोंने समाजके सामने जो ध्येय रक्खे थे वे ये थे कि दीर्घजीवन प्राप्त करो, रोगराई एवं अपमृत्युको

दूर करो, वार्धक्यको दूर हटाओ, वृद्धावस्थामें भी यौवनको सुरक्षित रखो, इस जीवनमें किसीसे भी न डरो, खानेपीनेका अभाव न होने दो, शोक, दुःख एवं आपत्तियोंको दूर करके जीवनको सुखपूर्वक बितानेकी व्यवस्था यहाँ करो।

विनाशका विचार

हिन्दु जातीके सामने ये ध्येय थे, जैन और बौद्धोंने इन्हें दूर किया और यती धर्मको प्रोत्साहित किया। संसारको छोडा जाय, संसारके सम्पूर्ण व्यापार असार हैं, अशाश्वत हैं, दुःखदायी हैं, अतः उनका भी त्याग किया जाय। जीव अकेला पैदा होता है और अकेला ही मरता है, यहाँ कोई किसीका नहीं है। स्त्री नहीं चाहिये, बच्चे नहीं चाहिये, घर नहीं चाहिये, राज्यकी आवश्यकता नहीं, भिक्षा मांगो और उसमें जो कुछ मिल जाय उसीपर सन्तोषसे जीवित रहो। संसार एक प्रकारसे जेलखाना है। शरीर पिंजरा है, इसमेंसे मुक्त होना चाहिये। जबतक यहाँ हैं तबतक दुःखसे छुटकारा नहीं मिल सकता, इसीलिये संसारका त्याग करो। यह विनाशकी ओर ले जानेवाला उपदेश हजारों वर्षोंसे हिन्दुओंके मनोंपर आघात करता चला आरहा है।

बौद्ध धर्मने इन विचारधाराओंको उठाया और अशोकने अपने राज्यके प्रभावसे उसे फैलाया। साधु सन्तोंने भी उसीका विस्तार किया है। यही कारण है कि संसारकी ओर तुच्छतासे देखनेकी प्रवृत्ति हिन्दु समाजमें सर्वत्र दिखाई पडती है। यही सुप्त एवं गुप्त प्रवृत्ति हिन्दुओंके ह्रासमें सर्वत्र कारणीभूत हुई है तथा जबतक यह प्रवृत्ति रहेगी तबतक सामूहिक रूपमें हिन्दुजातीका उत्थान होना कठिन है।

मायावाद

बुद्धका मत यह है कि ' संसार है और वह दुःखरूप है तथा ईश्वर नहीं है ' श्रीमच्छंकराचार्यने इस अवैदिक जैन बौद्ध मतका खण्डन करनेके लिये ' केवल ब्रह्म ही है और जगत् मिथ्या है ' ऐसा प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त बौद्धमतके खण्डनके लिये ठीक होनेपर भी ' जगत् माया है, भ्रम है, यह सब मिथ्या है ' आदि सिद्धान्त भी हिन्दुओंके विनाशके लिये कारणीभूत ही हुए हैं। संसार ही यदि मिथ्या है तो मुगल भी मिथ्या और उनका दिल्लीका साम्राज्य भी मिथ्या ?

जो हुआ ही नहीं है उसका प्रतिकार किसलिये किया जाय ? सचमुच इतिहासको देखनेपर ऐसा विदित होता है कि यहाँ असुर, राक्षस, हूण आदि विदेशी लोग आये, परन्तु उनका प्रतिकार जिस प्रकार किन्हीं वीर प्रवृत्तिके लोगों द्वारा होना चाहिये वैसा प्रतिकार यहाँ बुद्धोत्तर युगमें हुआ ही नहीं। क्योंकि नश्वर संसारका यह राज्य भी तो नश्वर है, फिर उसका शासन चाहे जो करे ! हमें तो शाश्वत निर्वाणकी प्राप्ति करनी है ! इसी भ्रममें बुद्धोत्तर कालमें हिन्दुजाती पडी रही और वही भ्रम आज भी उसे ग्रस्त किये हुए हैं।

वैदिक प्रवृत्ति और निवृत्ति अभ्युदय साधक थी। वह लुप्त होगई। जैन व बौद्धोंने जगत्को दुःखमय सिद्ध करके उसका त्याग करनेवाली निवृत्तिको बढावा दिया। यती धर्मको खूब प्रोत्साहन दिया गया। ये रोग हिन्दुधर्मके पीछे हजारों वर्षोंसे पडे हुए है। इन्हे दूर करके वैदिक गृहस्थकी विचारसरणी जागृत करके इसी शरीरसे, इन्हीं आंखोंके सामने, इसी लोकमें स्वर्ग स्थापन करनेका प्रयत्न करना ही आज हमारा परम कर्तव्य है। यही बात आज हिन्दुओंको हृदयङ्गम करनी अत्यावश्यक है। ऐसा होनेपर ही हिन्दुओंका भविष्य उज्वल हो सकता है।

[लेखांक २९]

समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका एक आर्य राजा

जगत् त्याग नहीं, जगत् सेवा

प्रवृत्ति एवं निवृत्तिकी वैदिक कल्पना कितनी ऊंची थी और बादमें इन्हीं शब्दोंका अर्थ कितना विकृत हो गया, यह हमने पिछले लेखमें देखा। गृहस्थाश्रमको स्वीकारना चाहिये। यहींपर सुखपूर्वक संसारयात्रा करनेका पराकाष्ठाका प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये असद्वृत्तियोंसे निवृत्ति एवं सद्वृत्तियोंकी ओर प्रवृत्ति बढानेवाले वैदिकधर्मकी सनातन एवं श्रेष्ठ कल्पनाओंको जागृत रखना

चाहिये। ऐसा न करके उन्हीं श्रेष्ठ कल्पनाओंका परित्याग हिन्दुजातीने किया और संसार त्यागकी कुकल्पनाओंको अपने जीवनमें स्थान दिया। यही कारण हुआ कि हिन्दु-जाती सामूहिकरूपमें अभ्युदय प्राप्त न कर सकी।

विगत हजार दो हजार वर्षोंका हिन्दुओंका इतिहास इसी प्रकारका है। बीच बीचमें सौ दो सौ वर्षोंमें कोई लोकोत्तर पुरुष इस जातीमें उत्पन्न होता है। वह कुछ न कुछ उन्नतिका कार्यक्रम इसके सामने रखता है। उसके द्वारा इस जातीमें थोडी बहुत स्फूर्ति उत्पन्न होती है और उससे यह कुछ हलचल भी करने लगती है, किन्तु पुनः जगत्— त्यागकी कल्पना उत्पन्न हो जाती है और वह सम्पूर्ण स्फूर्ति नष्ट हो जाती है तथा यह जाती पुनः दीर्घ-कालके लिये निद्रित हो जाती है। बुद्धोत्तरकालसे इसीकी पुनरावृत्ति होती चली आ रही है। इसका कारण यही है कि बुद्धके निराशावादकी छाया इस जातीपर असाधारण-रूपेण अन्दरतक पहुँच गई है। जबतक वह रहेगी तबतक यही होता रहेगा। अतः इस जगत्-त्यागवादके दुष्परिणा-मोंपर विशेष विस्तारके साथ विचार करेंगे।

हम चिरकालसे यह देखते आ रहे हैं कि हमारे समाजमें कपडे कम पहनने या बिल्कुल न पहननेवालोंकी प्रतिष्ठा अधिक होती है। कोई कोई तो शीत निवारणार्थ कपडे न पहनकर शरीरपर रस्सियाँ बांध लेते हैं। केवल कंबल अथवा मृगचर्मादि लपेट लेते हैं अथवा राख लगा लेते हैं। इस प्रकारके अनेक विचित्र दृश्य हमें दिखाई पडते हैं और यह भी दिखाई देता है कि ऐसे व्यक्तियोंका समाजद्वारा खूब आदर होता है।

राख चुपडकर यदि कोई रहता है तो यह समझा जाता है कि उसमें आध्यात्मिक बल विशेष है, किन्तु यदि कपडे बराबर व्यवस्थित रूपसे पहन लिये जांय तो कोई यह भी नहीं कह सकता कि उससे आध्यात्मिक बल कम हो जाता है।

आध्यात्मिक शक्ति-वृद्धिके साथ इन सब विचित्रताओंका वास्तवमें कोई संबंध नहीं है। बुद्धोत्तरकालमें उसके उठाये हुए नास्तिकवादका खूब ही बोलबाला रहा और उसमेंसे कापालिक आदि अनेक पंथोंका निर्माण हुआ। कइयोंने तो अघोरी जैसे भयंकर मार्गोंका भी अवलंबन किया। इन्हीं सब मार्गोंका अवशेष उपर्युक्त विचित्रतायें हैं और इसीलिये इन सबका यावच्छक्य शीघ्र ही उच्छेद हो जाना चाहिये।

इस प्रकारके एक करोड लोगोंको राष्ट्रमें रहने देना कोई बुद्धिमत्ताका लक्षण नहीं है। इस प्रकारके लोगोंका अस्तित्व जबतक समाजमें रहेगा तबतक तेजस्वी वैदिक-धर्मकी ज्योतिका प्रज्वलित होना कठिन ही है और समाजका सामूहिक अभ्युत्थान भी कठिन है।

जगद्दुःखवादी पंथको समाजमें पनपने देना ही समाजके विनाशका कारण है। 'विनाशके' इस बीजको कायम रखकर समाजको उन्नत करना लगभग असम्भव है। जगत् भ्रमवाद एवं जगद्दुः-खवाद माननेवालेका जबतक इस समाजमें सन्मान होगा तबतक राष्ट्रका सामूहिक अभ्युत्थान होना सम्भव नहीं है।

इस निराशावादके क्या क्या परिणाम होते हैं; इसपर विचार कीजिये—

कपडोंका त्याग यदि जनता करने लग जाएगी तो जुलाहे मर जाएंगे। इन त्यागी लोगोंके त्यागरूपी रोगके कारण एक एक धंदा किस प्रकार नष्ट हो जाएगा, इसपर विचार करना चाहिये। भिन्न भिन्न सुन्दर एवं सुशोभित वस्त्रोंका धारण करना वैदिककालमें सन्मानका चिन्ह माना जाता था। यही कारण था कि उस समय ६४ कलाओंका उदय हुआ और उनका विकास हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप कारीगरोंका व्यवसाय खूब बढा। किन्तु जब जनतापर ये विचार छा गये कि सुन्दर कपडे नहीं चाहिये उस समयसे जुलाहोंका और सूत कातनेवालोंका व्यवसाय नष्ट होता चला गया।

युवाः सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।

यह थी वैदिककालके लोगोंकी मान्यता। युवक विद्वान् उत्तम एवं सुन्दर वस्त्रोंको धारण करके सभामें आवें। आज भी हमारे समाजमें 'सुवासिनी' की पूजा की जाती है। यह वैदिक पद्धति है। स्त्रियोंको उत्तम रंगबिरंगे वस्त्र धारण करने चाहिये और अपने सौन्दर्यको बढाना चाहिये। वेदोंने स्त्रियोंके लिये 'उषा' देवीका आदर्श उपस्थित किया है। उषा एक या आधे घण्टेमें ही दो चार वेष (अपने वस्त्र) बदल लेती है, सजती है और नाचती हुई आगे आगे आती है। इस प्रकार वह आकर्षक बननेका प्रयत्न करती है। यह है स्त्रियोंके लिये वैदिक आदर्श।

पुरुषोंके लिये सूर्य आदर्श स्वरूप है। उत्तम रेशमी और चमकनेवाले वस्त्र धारण करके सूर्य आता है और अज्ञानान्धकारको दूर करके ज्ञानरूपी प्रकाश फैलाता है। युवक पुरुषको सूर्यके समान सुन्दर होना चाहिये और युवती स्त्रीको उषाके समान (सजी सजाई) बनना चाहिये। इस आदर्शको बुद्धने दूर हटाया और स्त्री पुरुषोंको यती धर्मकी दीक्षा दी तथा संसार त्यागका उपदेश दिया। इसीका रूपान्तर यह हुआ कि जनताने सूतक अवस्था जैसे गन्दे कपडे धारण करने शुरू किये और येनकेन प्रकारेण जीवन निर्वाह कर लेनेका आदर्श अपने सामने रखा।

वस्त्रोंकी आवश्यकता नहीं, कमसे कम उनका प्रयोग किया जाय, वे चाहे जैसे हों तो भी कोई चिन्ता नहीं, सजावट अच्छी नहीं, शोभा न की जाय, सौन्दर्यसे दूर रहा जाय, इस असार संसारमें शरीररूपी प्रेतकी सजावट आखिर किसलिये ? इस पू-मूत्र और विष्ठाके गोलेको सजाकर क्या काम ? आदि भाषाका प्रचलन जैन और बौद्धोंने किया और इसीका प्रयोग हमारे साधुसन्तोंने भी किया।

वैदिककालमें इस देहको ' सप्त ऋषियोंका पवित्र आश्रम ' माना जाता था। ' सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ' (वा.यजु.) इस शरीरको '३३ देवताओंका पवित्र मंदिर माना जाता था। यह कल्पना कितनी उदात्त है। ऐसे श्रेष्ठ और पुनीत शरीरको ये लोग पूय-विण्मूत्रका गोला मानने लगे! विचारोंका यह कितना भयंकर पतन है। पूय-विण्मूत्रके गोले की सजावट भला कौन करेगा ? किन्तु देवमंदिरकी सजावट अवश्य ही प्रत्येक व्यक्ति करेगा। मन्तव्योंका परिणाम व्यवहारमें भी इस प्रकार हुआ करता है।

कपडोंका त्याग करनेसे जिस प्रकार जुलाहे, रंगरेज और दर्जी आदि मर जायेंगे उसी प्रकार अलङ्कारोंका परित्याग करनेसे स्वर्णकार समाप्त हो जायेंगे। क्योंकि इस शौच कूपको किसलिये सजाया जाय ? यह शरीर तो साक्षात् प्रेत है। इसपर अलंकारोंका धारण मूर्खोंकी तरह क्यों किया जाय ? इस प्रकारकी विचारसरणीका परिणाम अलंकार बनानेवाले कारीगरोंकी समाप्ति ही हो सकता है।

संसारकी आवश्यकता नहीं, बर्तनोंकी आवश्यकता नहीं, घर, पशु, रथ और राज्य भी नहीं चाहिये आदि विचारोंके फैलनेपर एक एक व्यवसाय समाप्त हो जाता है और इस प्रकार पूराका पूरा राष्ट्र ही एक दिन समाप्त हो सकता है।

इस आधुनिक निवृत्ति मार्गका प्रचार बार बार होनेपर भी यह सौभाग्यकी बात है कि समस्त जनता उनके चक्करमें नहीं फंसी। अन्यथा आज एक भी शिल्पी हमें दिखाई न देता। किन्तु इस त्याग और असारताके सतत प्रचारका एक यह दुष्परिणाम अवश्य हुआ है कि शिल्पकलादि की जितनी उन्नति आजतक होनी चाहिये थी उतनी न हो सकी।

यहाँ अनेक हिन्दुसम्राट् हुए, मुगल बादशाह भी हुए और जहांगीरदार भी हुए। इन सबने सौन्दर्य एवं कला-कौशलको प्रोत्साहन दिया। यदि समस्त जनता इस निराशावादी तत्त्वज्ञानमें पूर्णत: फंस गई होती तो इस देशमें किसी कलाकृतीके हम दर्शन ही न पाते।

वैदिककालके देवता ' सौन्दर्य बढानेवाले ' (सुरूप कृत्नु) थे। ' पेशो अपेशसे ' जो सुन्दर न था उसे वे सुन्दर बनाया करते। इस कारण जनतामें जो कलाशिल्पी होते थे उन्हें प्रोत्साहन मिलता था।

हम वेदोंमें देखते हैं कि बढई, लुहार, कंसारा, रथकार और कुम्भकार आदि जातियोंके शिल्पियों-को प्रणाम किया गया है। परमेश्वरस्थित कौशल्य इन कारीगरोंमें कलाकौशल्यके रूपमें अवतरित हुआ है; अतः ईश्वरीय गुणोंको धारण करनेवाले होनेके कारण ये वन्दनीय हैं।

वैदिककालमें यही कारण था कि जिससे इन शिल्पियोंको इस प्रकार बहुमान प्राप्त था। समाजमें शिल्पियोंको उच्च और सन्मानका स्थान प्राप्त होना उस समाजकी उच्चताका ही बोधक है।

समाजमें जबसे यह मिथ्या निवृत्तिकी कल्पना बढने लगी तभीसे इन शिल्पियोंको प्रतिष्ठाके अयोग्य माना जाने लगा। वेदोंमें इन शिल्पियोंकी जो प्रतिष्ठा दिखाई पडती है वह पुराण कालमें दिखाई नहीं देती, क्योंकि पुराणोंका समय बुद्धके पश्चात्का है।

वैदिक कालमें स्त्रियोंका दर्जा पुरुषोंके बराबरका है। पत्नीके बिना वह यज्ञ नहीं कर सकता था। पुरुषकी बराबरीमें रहनेवाली स्त्री, नित्य नये नये वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित होकर उषाके समान सजनेवाली वैदिक युगकी स्त्रीके दर्शन हमें पुराण युगमें नहीं होते। पुराणकालमें स्त्रियोंका वेदाधिकार छिन गया। वेदोंमें वैदिक सूक्तका गायन करनेवाली स्त्रियोंको हम पाते हैं, किन्तु उन्हीं मन्त्रोंका उच्चारण

करनेका भी अधिकार उनसे पुराण कालमें छीन लिया गया। इसका कारण यह है कि जो स्त्री वैदिक कालमें उषाके समान पूज्य थी वही पौराणिक और तदुत्तर कालमें अधमाधम बन गई !!!

इसका कारण बहुत गहराईमें जाकर ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं है। जब संसार त्याज्य और असार माना गया, गृहत्यागको ध्येय माना गया तो फिर संसारमें जन्म देनेवाली स्त्री भी महा पापिनी मानी ही जायगी। असार संसारके जनक भगवान बुद्धने स्वयं स्त्री, घरदार और राज्यका परित्याग किया ही है। जैनियोंके समस्त तीर्थङ्कर भी इसी प्रकार एकाकी ही थे। यती धर्मको आदर्श मान लेनेपर फिर स्त्रीको कौन पूछेगा और वैदिककालके समान उसका सन्मान भी कौन भला करेगा?

वास्तवमें यतीधर्म कोई धर्म ही नहीं है। यह तो विश्वके व्यवहारोंका सम्पूर्णतः उच्छेद करनेवाला एक सम्प्रदाय है। इसीलिये यह अस्वाभाविक भी है। यही कारण है कि बुद्धको अपने जीवनकालमें ही बिहारोंमें हुए अनाचारोंको देखकर पश्चात्ताप करना पडा। पुरुष अथवा स्त्री २० या २५ वर्षतक व्रतस्थ रह सकती है, संयमका पालन कर सकती है, इस प्रकार रहना उसके स्वास्थ्यके लिये भी लाभप्रद हो सकता है। किन्तु यदि कोई सभी स्त्रीपुरुषोंसे आजन्म यती धर्मके पालन करानेका प्रयत्न करे तो यह कदापि सम्भव नहीं है। इस प्रकारसे तो उनके शरीरपर भी अनिष्ट परिणाम होंगे। इसीलिये वेदोंने आयुके २५।२५ वर्षोंके चार विभाग किये हैं तथा उनमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यासकी व्यवस्था की है। जो वानप्रस्थ तथा संन्यास न निभा सके उनके लिये गृहस्थाश्रममें ही नियम पूर्वक रहनेका विधान निश्चित किया है।

शरीरका जो स्वभाव है तथा उसकी जो आवश्यकता है उनकी उपेक्षा करके जो नियम बनाये जायेंगे वे नियम किसीके लिये हितकारक सिद्ध नहीं हो सकते। वैदिक धर्मकी यह आश्रमव्यवस्था तथा उसके नियम ऐसे हैं कि जिनसे किसीका भी अकल्याण कभी भी नहीं हो सकता।

यहाँ तो सौन्दर्यका मान है, कुलाकी सुरक्षा है, मर्यादित भोग ग्रहणकी सुविधा है, व्यक्तिकी उन्नतिके लिये अवसर है, समाजका संगठन होकर राष्ट्रके बलकी अभिवृद्धि होनेकी पूर्ण योजना है। समस्त स्त्रीपुरुषों द्वारा यती धर्मके पालन करानेकी असम्भव आज्ञा यहाँ नहीं मिलेगी। अपितु यहाँ तो गृहस्थ धर्मकी प्रशंसा की गई है। इसपर पाठकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये।

हमने इस लेखमें यह देखा कि निवृत्ति एवं वैराग्य वैदिक धर्मका भाग नहीं है। यह वृत्ति तो बहुत पीछे उत्पन्न हुई है और इसके कारण हिन्दुओंकी समस्त कुटुंब व्यवस्था और समाजव्यवस्था ही अस्तव्यस्त होगई।

वैदिक कालमें असत्पथसे निवृत्तिकरण एवं जिनसे हीन संस्कार होंगे उनसे विरक्त होना आवश्यक समझा जाता था। इन शब्दोंका प्रयोग आजकल जितना किया जाता है अथवा आधुनिक ग्रन्थोंमें इन शब्दोंके विषयमें जितना आदर व्यक्त किया गया दिखाई पडता है उतना वेदोंमें नहीं। 'विरक्त, वैराग्य, निवृत्ति' ये शब्द भी वैदिक साहित्यमें नहीं है, यदि ऐसा कहा जाय तब भी कोई अत्युक्ति न होगी। बुद्धोत्तर साहित्यमें तो इन शब्दोंका मानो प्रवाहसा बह निकला है। जबसे इन शब्दोंका प्रयोग आरम्भ हुआ है तबसे राजनीतिमें हिन्दुओंका पराभव भी आरम्भ होगया है।

संसार त्यागकी भाषाका प्रयोग प्रारम्भ करते ही राजनीतिमें हिन्दुओंका पराभव आरम्भ हो गया। जिसका चिन्तन किया जाता है वही प्रत्यक्ष होता है। वैदिककालमें 'साम्राज्यं, स्वाराज्यं, महाराज्यं' हमें चाहिये, ऐसा बोला जाता था। 'समुद्रपर्यंतायाः पृथिव्या एकराट्' समुद्रतककी पृथ्वीपर एक आर्य राजा हो तथा वैदिक अनुशासनके अनुरूप चलनेवाला राज्यशासन हो, ऐसा कहा जाता था तथा वैसा होता भी था। आज तो 'मुझे कुछ नहीं चाहिये, मैं संसारका त्याग करता हूँ' ऐसा कहना शुरू कर दिया है। इस कारण इनके राष्ट्रके संसारका विध्वंस हो गया है।

आज हम पुनः स्वतन्त्र स्वराज्यको प्राप्त कर चुके हैं। अतः हमें पुनः 'स्वराज्य, महाराज्य और समुद्रपर्यंत व्याप्त पृथ्वीपर एक आर्य विचारोंका राज्य हो' इस बातके लिये यत्न करना आवश्यक है। यह प्रयत्न किस प्रकार करना चाहिये, यह हम अगले लेखमें देखेंगे।

ब्रह्मपारायण यज्ञ

(लेखक— श्री. स्वामी स्वतंत्रानंदजी महाराज, दीनानगर जि. गुरदासपुर.

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
गीता०

ब्रह्मपारायण यज्ञ शास्त्रीय है वा अशास्त्रीय, यह प्रश्न कुछ कालसे चल रहा है। मैंने प्रथम इस विषयका लेख लिखा था। उसके पश्चात् अनेक विद्वानोंने पक्ष विपक्षमें लेख लिखे। उनमें कुछ प्रमाण भी उद्धृत किये गये। इसी कारण यह लेख मैं लिख रहा हूं। इसमें उन प्रमाणों-पर विचार किया जायगा, जो उन लेखोंमें लिखे गये हैं।

(१) ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च।
ऋचां अशीति पादश्च एतत्पारणमुच्यते।

अर्थात् १०५८० मन्त्रोंका पारायण करते हुए यज्ञ किया जाय।

यह पाठ शौनकाचार्यकृत अनुवाकानुक्रमणिकामें है। वहां वेद पारायणका विधान है। और इस पाठमें 'पारण' शब्द है, जिसका भाव है, 'इतने मंत्र पढे जायें'। इसके अर्थ करते हुए लेखक 'यज्ञ किया जाय' लिख रहा है। पता नहीं कि यह किस शब्दका अर्थ है। अथवा यह किसकी अनुवृत्ति है? दन्तकथा है। किसी क्षुधातुरसे किसीने पूछा 'दो और दो कितने होते हैं? उसने उत्तर दिया 'चार रोटियाँ'। उसी प्रकार यह पारायणवादी पारण शब्दका अर्थ पारायण करते हुए 'यज्ञ किया जाय' करता है! यह पाठ पारायण यज्ञका किसी प्रकार भी साधक नहीं है। ऐसे ही आगे भी जहां वेद, यज्ञ शब्द पढा, वहां पारायण यज्ञ मान लिया है, जो ठीक नहीं है।

(२) यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश
मर्तो अग्नये। यो नमसा स्वध्वरः॥ ऋ० ८।१९।५

ऋग्वेद कल्पद्रुममें 'संहिता होमे प्रमाणम्'

इस मंत्रको ऋग्वेद कल्प-द्रुमके आधारपर 'संहिता होम' सिद्ध किया है। कल्पद्रुम न ब्राह्मणग्रन्थ है और नहीं श्रौतसूत्र है, और नहीं ऋषि दयानन्दजीने इसे कहीं माना है। ऋषि दयानन्दजीके माने हुए सिद्धान्तको तो आप किसी प्रमाणसे पुष्ट कर सकते हैं। किन्तु जो बात उन्होंने नहीं मानी है। उसके लिये इन ग्रन्थोंका प्रमाण मान्य नहीं है। क्योंकि ऋग्विधान, यजुर्विधान, कल्पद्रुम आदिमें जादू टोने आदि अनेक बातें वर्णन की गई हैं, इस-लिये यह लेख ठीक नहीं है।

मन्त्रमें समिधा, आहुति, यज्ञका वेद द्वारा वर्णन है। इससे यज्ञ तो सिद्ध होता है। पारायण यज्ञ तो यह सिद्ध नहीं करता है। वेदमंत्रकी विधि ब्राह्मण ग्रन्थ करते हैं, उनमेंसे पारायण यज्ञकी खोज करनी चाहिये, इन ग्रंथोंसे नहीं।

(३) यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामा-
भ्यां प्र रथं वर्तयन्ति। ऋ० १०।११४।६

सायणाचार्यने लिखा है-' कवयः मनीषा मनीषया बुद्ध्या एवं यज्ञं विमाय निर्माय रमन्त्यत्रेति रथो यज्ञः तं रथं यज्ञं ऋक्सामाभ्यां प्रवर्तयन्ति प्रकर्षेण संपादयन्ति।' अर्थात् बुद्धिमान लोग बुद्धिसे यज्ञका निर्माण करके उसका ऋग्वेद और सामवेद द्वारा उत्तमतासे संपादन करते हैं। इस मन्त्रसे भी ब्रह्मपारायण यज्ञका निर्देश स्पष्ट है।

इस लेखकने मंत्रका उत्तरार्ध लिखकर ब्रह्मपारायण यज्ञकी सिद्धि की है, पूर्वार्ध छोड दिया है। मैं वह पूर्वार्ध लिख देता हूं-

षट्त्रिंशाश्चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।

"पूर्वं सामान्येन यज्ञग्रहानुक्त्वा इदानीं सर्वग्रहादि पूर्वको यज्ञोऽभिधीयते षट्त्रिंशान् द्वावुपांश्वन्तर्यामौ। ऐन्द्रवायवादयश्चयो द्विदेवत्या ग्रहाः। द्वौ शुक्रामन्थिनौ। आग्रयण उक्थो ध्रुवश्चेति त्रयः। ऋतुग्रहा द्वादश। ऐन्द्राग्नो

वैश्वदेवश्च द्वौ। त्रयो मरुत्वतीयाः। एको माहेन्द्रः। आदित्यसावित्रौ द्वौ। वैश्वदेवः पत्नीवतो हारियोजन इति त्रयो ग्रहाः। एवं षट्त्रिंशद्भवन्ति। अत्यग्निष्टोमे पूर्वे षट्त्रिंशद्ग्रहाः। द्वावश्वदाभ्यो दधिग्रह षोडशीति चेति चत्वारः। एतान् चत्वारिंशत् संख्याकान् ग्रहान् कल्पयन्तः सोमेन पूरयन्तः। किंच आद्वादशं। द्वादशसंख्याक-प्रउगादिं सत्रसमाप्तिपर्यन्तं। छन्दांसि गायत्र्यादिनि दधतः स्तुतशस्त्रादि रूपेण आधारयन्तः॥ (सायनाचार्य भाष्य)

लेखक महोदय मन्त्रके पूर्वार्धके साथ लिखते तो पता लग जाता, कि वह मंत्र ब्रह्मपारायणका वर्णन नहीं करता है। यह कोई और यज्ञ है। लेखक महानुभावने पूर्वार्द्ध इसी कारण नहीं लिखा, वह उनके विरुद्ध था। इस प्रकारका व्यवहार विद्वानोंके योग्य नहीं है।

यह मंत्र ब्रह्मपारायण नहीं कहता इसलिये लेखकका यज्ञ अर्थात् ब्रह्मपारायण यज्ञ इससे सिद्ध नहीं होता।

(४) सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं
बहुधा कल्पयन्ति। छन्दांसि च दधतो अध्व-
रेषु ग्रहान् सोमस्य मिमते द्वादश॥

ऋ० १०।११४।५

' छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ' इन शब्दोंसे वेदोंके द्वारा यज्ञ अथवा ब्रह्मपारायण यज्ञका भाव स्पष्टतया सूचित होता है। ' यह लेखकका कथन है? इसपर सायणाचार्यका भाष्य लिखता हूं—

" अध्वरेषु यज्ञेषु छन्दांसि गायत्र्यादि सप्तछन्दांसि दधतः स्तोत्र शस्त्रादिना धारयन्तो द्वादशसंख्याकान् सोमस्य ग्रहान् ग्रहण साधनानि पात्राण्युपाश्वन्तर्यामानि मिमते निर्मिमीते। "

इसमें सोमके १२ ग्रहोंका वर्णन है, लेखकने उसे देखते हुए भी नहीं लिखा, और ' छन्दांसि ' से ब्रह्मपारायण यज्ञका विधान लिख दिया, जो सर्वथा अनुचित है। ' स्वार्थी दोषं न पश्यति। '

(५) वि ये दधुः शरदं मासमा दहर्यज्ञमक्तुं
चादृचम्।
अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्र राजान आशत॥

ऋ० ७।६६।११

अर्थ— जो विद्वान शरद् मासके प्रारंभिक दिनरातके यज्ञको ऋग्वेदकी ऋचाओंसे अच्छी प्रकार करते हैं, वे इस दुर्लभ यज्ञको करके सबसे पूजनीय, सर्वप्रिय, न्यायशील तथा दीप्तिमान होकर क्षात्र धर्मको लाभ करते हैं। "

इससे ब्रह्मपारायण यज्ञ कैसे सिद्ध हुआ? यह मंत्र यज्ञ तो कहता है। पर ब्रह्मपारायणकी इसमें गन्ध भी नहीं है। यह क्षात्रियोंका कोई यज्ञ हो सकता है क्योंकि क्षात्र धर्मकी प्राप्ति इसमें लिखी है।

(६) चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे
सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो
रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश॥

ऋ० ४।५८।३

" इसमें भी वेदों द्वारा किये जानेवाले ब्रह्मपारायण यज्ञका समर्थन स्पष्ट है। " ऐसा लेखकने कहा है। इसपर ऋषि दयानन्दजीने ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्यमें लिखा है- " जो मनुष्य यज्ञ विद्याको जानते हैं, वे महाशय बुद्धिमान होते हैं। यजुःभाष्य। यहां प्रातः मध्यान्ह और तृतीय सवनका उल्लेख है। इस मन्त्रसे ब्रह्मपारायण यज्ञ सिद्ध नहीं होता है। अतः आपका लिखना ठीक नहीं है। सब यज्ञोंमें वेद मंत्र पढे जाते हैं इतना ही इससे सिद्ध होता है।

(७) प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा।
ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे॥

यजु० १८।६३

" इस मन्त्रसे भी महर्षि दयानन्दके भाष्यानुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा आदि पदसे सामवेद और अथर्ववेदके मंत्रों द्वारा यज्ञ करनेका जिसे ब्रह्मपारायण यज्ञ वा संहिता होम कहा जाता है, निर्देश स्पष्ट है। " ऋषिने भावार्थमें ' वेद रीत्या ' शब्द लिखा है। आपको बताना चाहिये था, ब्रह्मपारायण किस रीतिसे है। वैसे ही लिख देना कि इससे ब्रह्मपारायण यज्ञका निर्देश स्पष्ट है। भावणके अन्धेको सब हरा ही दीखता है बाकी बात चरितार्थ होती है। और कुछ नहीं।

(८) ऋचो नामासि यजूंषि नामासि
सामानि नामासि। ये अग्नयः पाञ्चजन्या
अस्यां पृथिव्यामधि तेषामसि त्वमुत्तमः प्र
नो जीवातवे सुव॥ यजु० १८।६७

(भाष्यमें ऋषिके शब्द) " जो वेदवित् होवें, वे अग्निहोत्रादि यज्ञोंसे सब मनुष्योंके हितको सिद्ध करें, जिससे उनकी उत्तम कीर्ति होवे। और सब प्राणी दीर्घायु होवें, अध्ययन और पाठ करके उसके द्वारा चारों वेदोंसे यज्ञ करानेकी ध्वनि इस मन्त्रद्वारा स्पष्ट है। " यह लेखकका कहना है।

ऋषिके लेखोंमें प्रायः ' अग्निहोत्रसे अश्वमेधपर्यंत यज्ञ ' लिखा मिलता है। यहां उन्ही यज्ञोंका कथन है। ब्रह्म पारायणका नहीं।

(९) दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः।
स्वाहाग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः॥ यजु० ३८।११

" इससे वेद द्वारा किये जानेवाले यज्ञ अर्थात् ब्रह्म-पारायण यज्ञकी वैदिकता स्पष्टतया ज्ञात होती है।" लेखक ऐसा लिखता है।

ऋषिके शब्द हैं " (इमं यज्ञं) इस संग करने योग्य गृहाश्रम व्यवहारके उपयोगी यज्ञको सुखपूर्वक धारण कर। " (इमं यज्ञं) इस धर्मार्थके साधक संन्यासाश्रमके उपयोगी विद्वानोंके संगरूप यज्ञको सुखपूर्वक धारण कर।' गृहस्थ धर्मका उपयोगी और विद्वानोंका संगरूप यज्ञ ब्रह्म पारायण यज्ञ कैसे हैं? इससे यह भाव निकालना लेखकका विशुद्ध चमत्कार है।

(१०) एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र
देवासो अजुषन्त विश्वे। ऋक्सामाभ्यां
सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम॥
यजु० ४।१

लेखकने इस मन्त्रपर लिखते समय ब्रह्मपारायण शब्द तो नहीं लिखा। ऋषि दयानन्दजी और उवट आदिका पाठ लिखकर बतला दिया है। ऋक साम यजुर्वेदसे यज्ञका वर्णन है।

यह सत्य है मन्त्रमें ऋक् यजु सामका नाम है और यज्ञोंमें ये वेद पढे जाते हैं। इनके ऋत्विज, होता, अध्वर्यु, उद्गाता होते हैं वे यज्ञमें अपने अपने वेद मन्त्र पढते हैं। आनुपूर्वी सारा वेद नहीं पढा जाता है। अतः यह भी ब्रह्मपारायण यज्ञका पोषक नहीं है। वेद पढनेका पोषक अवश्य है।

(११) यज्ञं व्याख्यास्यामः। स वेदैर्विधीयते
सत्याषाढ १।१

अर्थात् यज्ञकी व्याख्या करते हैं। वह वेदोंसे किया जाता है (उत्तर) सत्याषाढमें पाठ इस प्रकार है—

' यज्ञं व्याख्यास्यामः। स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते।
ऋग्वेद-यजुर्वेदाभ्यां दर्शपूर्णमासौ। यजुर्वेदेन
अग्निहोत्रम्। सत्याषाढ श्रौतसूत्र

इस सूत्रमेंसे लेखकने ' त्रिभिः ' शब्द छोड दिया है। अगले सूत्रोंमें प्रकृति यज्ञका वर्णन था, उसे भी छोड दिया। और ' वेद ' शब्दसे पारायण यज्ञ सिद्ध मान लिया, जो ठीक नहीं। श्रौतसूत्र यज्ञोंका वर्णन करता है। उनमें यज्ञोंके नाम हैं, विधियां हैं, उनमें पढे जानेवाले वेद मंत्रोंका उल्लेख है। पर पूर्ण वेद पढकर कोई यज्ञ होता है ऐसा नहीं है। इसलिये यह प्रमाण भी आपका पोषक नहीं है।

(१२) न वै पापैर्ह्रियते कृष्यते वा यो ब्राह्मणो
यजते वेदशास्त्रैः। महा० शां० २६९-१८

" अर्थात् जो ब्राह्मण वेदशास्त्रोंसे यज्ञ करता है उसकी कभी पापमें प्रवृत्ति नहीं होती। " इनमें इतना वर्णन है, जो ब्राह्मण वेदशास्त्रसे यज्ञ करता है। इससे ब्रह्मपारायणकी सिद्धि कैसी हुई? आपने इस श्लोकका उत्तरार्ध क्यों छोड दिया? इसीलिये कि उसमें पशुयज्ञ है। उत्तरार्ध यह है-

ऊर्ध्वं यज्ञैः पशुभिः सार्धमेति संतर्पितस्तर्पयते
च कामैः॥ महा० शां० २६९।१८

अर्थात वह यज्ञ और यज्ञीय पशुके साथ स्वर्गको जाता है और स्वयं कामनाओंसे तृप्त होकर अन्योंको भी तृप्त करता है।

महाभारतका यह श्लोक पशुयज्ञका माहात्म्य बतला रहा है। आप इसे ब्रह्मपारायणमें लिख रहे हैं। विद्वानोंके लिये यह बात ठीक नहीं। इस भांति ब्रह्मपारायण यज्ञ शास्त्रीय सिद्ध नहीं होता।

(१३) जोधपुर नरेशको पत्र

" इस देशमें वर्षा प्रायः न्यून होती है। इसलिये यदि मेरे कहे अनुसार एक एक वर्षमें १००००) दस हजार रु० का घृतादिका नित्यप्रति और दुर्भिक्षकालमें चार महिनेतक

अधिक होम करावेंगे। वैसे प्रतिवर्ष होता रहे, तो संभव है, कि देशमें रोग न्यून और वर्षा अधिक हुआ करे। "

इससे ब्रह्मपारायण यज्ञकी सिद्धि नहीं होती। इसमें ऋषिने कहा है ' मेरे कहे अनुसार। न कि चारों वेदोंका पाठ करके यज्ञ संभव है। जैसे वर्षाके लिये विशेष यज्ञ किया जाता है, वैसे ही ऋषिकी कोई विधि हो। उसके अनुसार यज्ञ करनेका इसमें आदेश है। इसलिये यह पत्र भी ब्रह्मपारायणको सिद्ध नहीं करता है।

(१४) महाराणा उदयपुराधीशको पत्र।

' निरामय महोत्सवमें निम्नलिखित कार्य अवश्य कीजियेगा। एक वेदमंत्रोंसे होम, दूसरा १२५०००) सवा लाख रुपयेसे क्षात्र यज्ञशाला, और २५०००) पचीस हजार स्वराज्यमें अनाथ, वृद्ध, विधवा और रोगियोंके पालनेके लिये और १००००) दस हजार मेवाडमें वैदिक धर्म प्रचार और प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंके छपवानेका प्रबंध करनेके लिये और २०००००) दो लाख वहांके क्षत्रिय सरदारोंसे लेकर क्षात्रशालास्थापन शीघ्र कीजियेगा। इसमें ऐसा समझिये कि जानो एकवार गवर्नर जनरल साहेब और आये थे। '

इस पत्रमें भी निरामय उत्सवपर होमका उल्लेख है, ब्रह्मपारायण यज्ञका विधान नहीं है। प्रत्येक हवन वेद मंत्रोंसे होता ही है। उस यज्ञके साथ साथ क्षात्र शाला, अनाथ-विधवादि रक्षा, और वेद प्रचारका विधान हैं। आप ही लिखें, यह पारायण यज्ञवादी इन कामोंमें कितना व्यय करते हैं ? यह भी चिंतनीय है। यह पत्र राजाओंके लिये है। इस समय तो ब्रह्मपारायण यज्ञके प्रेमी चन्दा मांगकर यज्ञ करते हैं। ऋषिने इस प्रकार करना कहीं भी नहीं लिखा। अतः ये दोनोंपत्र ब्रह्मपारायण यज्ञको सिद्ध नहीं करते।

(१५) कई सज्जन कहते हैं, शातातप स्मृतिमें कुष्ठ रोगकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मपारायण यज्ञका विधान है। इसलिये मैं शातातप स्मृतिका वह सारा प्रकरण लिखता हूं, पाठक स्वयं ही निश्चय कर लें कि उस स्मृतिमें इसका विधान है वा नहीं—

ब्रह्महा नरकस्यान्ते पाण्डुकुष्ठी प्रजायते।
प्रायश्चित्तं प्रकुर्वीत स तत्पातकशान्तये ॥ १ ॥
चत्वारः कलशाः कार्याः पञ्चरत्न समन्विताः।
पञ्चपल्लवसंयुक्ताः सितवस्त्रेण संयुताः ॥ २ ॥
अश्वस्थानादि मृद्युक्तास्तीर्थोदकसुपूरिताः।
कषायपंचकोपेता नानाविधफलान्विताः ॥ ३ ॥
सर्वौषधिसमायुक्ताः स्थाप्याः प्रतिदिशं द्विजैः।
रौप्यमष्टदलं पद्मं मध्यकुम्भोपरि न्यसेत् ॥ ४ ॥
तस्योपरि न्यसेद्देवं ब्रह्माणं च चतुर्मुखम्।
पलार्धार्द्धप्रमाणेन सुवर्णेन विनिर्मितम् ॥ ५ ॥
अर्चयेत्पुरुषसूक्तेन त्रिकालं प्रतिवासरम्।
यजमानः शुभैर्गन्धैः पुष्पैर्धूपैर्यथाविधि ॥ ६ ॥
पूर्वादि कुम्भेषु ततो ब्राह्मणा ब्रह्मचारिणः।
पठेयुः स्वस्ववेदांस्ते ऋग्वेद प्रभृतीन्छनैः ॥७॥
दशांशेन ततो होमो ग्रहशान्तिपुरःसरम्।
मध्यकुम्भे विधातव्यो घृताक्तैस्तिलहोमभिः ॥८॥
द्वादशाहमिदं कर्म समाप्य द्विजपुंगवः।
तत्र पीठे यजमानमभिषिञ्चेद्यथाविधि ॥ ९ ॥
ततो दद्याद्यथाशक्ति गोभूहेमतिलादिकम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तथा देयमाचार्याय निवेदयेत् ॥१०॥
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वे देवा मरुद्गणाः।
प्रीताः सर्वे व्यपोहन्तु मम पापं सुदारुणम् ॥११॥
इत्युदीर्य मुहुर्भक्त्या तमाचार्यं क्षमापयेत्।
एव विधाने विहिते श्वेतकुष्ठी विशुद्ध्यति ॥१२॥
कुष्ठी गोवधकारी स्यान्नरकान्तेऽस्य निष्कृतिः।
स्थापयेद्घटमेकं तु पूर्वोक्तद्रव्यसंयुतम् ॥१३॥
रक्तचंदनलिप्तांगं रक्तपुष्पांबरान्वितम्।
रक्तकुम्भं तु तं कृत्वा स्थापयेद्दक्षिणां दिशम् ॥१४॥
ताम्रपात्रं न्यसेत्तत्र तिलचूर्णेन पूरितम्।
तस्योपरि न्यसेद्देवं हेमनिष्कमयं यमम् ॥ १५ ॥
यजेत्पुरुषसूक्तेन पापं मे शाम्यतामिति।
सामपारायण कुर्यात् कलशे तत्र सामवित् ॥१६॥
दशांशं सर्षपैर्हुत्वा पावमान्यभिषेचयेत्।
विहिते धर्मे राजानमाचार्याय निवेदयेत् ॥ १७ ॥
यमोऽपि महिषारूढो दण्डपाणिर्भयावहः।
दक्षिणाशापतिर्देवो मम पापं व्यपोहतु ॥ १८ ॥
इत्युच्चार्य विसृज्यैनं मासं सक्तुकिमाचरेत्।
ब्रह्मगोवधयोरेषा प्रायश्चित्तेन निष्कृतिः ॥ १९ ॥

शातातपस्मृति अ० २।१-१९

इन श्लोकोंमें ब्रह्महत्यासे श्वेतकुष्ठ और गोहत्यासे कुष्ठका वर्णन करके उसका प्रायश्चित्त लिखा है। घटस्थापना, उसपर ब्रह्मा तथा यम देवताकी मूर्ति, उनका पूजन लिखा है। ब्रह्महत्यारेके प्रायश्चित्तमें चारों वेदोंका पाठ और गोहत्याके पापमें सामवेदका पाठ लिखा है। चारों वेदोंसे वा एक वेदसे होम नहीं लिखा है। श्लोक ८ और १७ में होम लिखा है उसके अर्थ ये हैं— "इसके उपरान्त ग्रहशान्ति करके बीचके घटपर घृतसंयुक्त कर तिल और सुवर्णसे दशांश हवन करें ॥ ८ ॥ फिर सरसोंसे दशांश हवन कर पावमानी ऋचाओंसे अभिषेक करनेके उपरान्त धर्मराजकी मूर्ति आचार्यको दे ॥ १७ ॥" और श्लोक ७ में 'पठेयुः स्वस्ववेदांस्ते' अर्थात् अपने अपने वेदका पाठ करें ऐसा लिखा है। और श्लोक १६ में 'सामपारायणं कुर्यात्' यहां भी सामपाठ ही है। हवन कहीं भी नहीं है। अत. यह स्मृति भी पारायणकी पोषक नहीं है।

मुझे ये १५ प्रमाण मिले। इसलिये इनपर विचार किया गया यदि कोई और प्रमाण मिले, तो उनपर भी विचार कर लूंगा। इन प्रमाणोंसे ब्रह्मपारायण यज्ञ सिद्ध नहीं होता है, यह मेरा निश्चय है।

पक्ष विपक्षके लिखनेवाले प्रायः आर्यसमाजी हैं। इसलिये कर्मकाण्ड विषयक ऋषि दयानन्दजीका मत लिखना आवश्यक है। वह यह है-

"अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते, परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत्कर्तव्यं तत्र तत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते।"

प्र० कुतः ?

सि०- कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथ ब्राह्मण-पूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थविनियोजितत्वात् पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्मात् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो गृहीतुं योग्योऽस्ति। (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका प्रतिज्ञा विषयः)

इस पाठमें ऋषिने स्पष्ट लिख दिया है। कर्मकाण्डमें ऐतरेय, शतपथ, साम ब्राह्मण, गोपथ, पूर्व मीमांसा, और श्रौतसूत्र ही प्रमाण हैं। उनमें जो विधियाँ हैं वह ग्राह्य हैं। वेदमंत्रोंके अर्थ देखकर तदनुकूल और विनियोग भी बनाये जा सकते हैं। इससे ब्रह्मपारायणादि यज्ञ ऋषि आशयके अनुकूल नहीं हैं। इसलिये कर्तव्य भी नहीं हैं। क्योंकि इन पुस्तकोंमें उनका विधान भी नहीं है।

दूसरे स्थानपर ऋषिने लिखा है—

प्र०— किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कुशातृणं, यज्ञशाला, ऋत्विजैश्चतत्सर्वं करणीयमस्ति ?

सि०— अत्र ब्रूमः। यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्कर्तव्यं नेतरत्। (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका वेदविषयविचारः)

इसका भाव यही है- यज्ञक्रियामें जो जो बात युक्तियुक्त है, वही कर्तव्य है, अन्य नहीं।

यज्ञ करनेके लिये वेदवेत्ता होना आवश्यक है। ब्रह्मा तो चारों वेदोंका ज्ञाता होना चाहिये। वर्तमान पारायण यज्ञोंमें प्रायः वेदावेत्ता ही सब कुछ करते हैं। यज्ञके लिये यजमान ऋत्विजको खोजता था। इस समय पारायणवादी ऋत्विज यजमानको खोजते हैं। श्रौत यज्ञ प्रायः संपन्न व्यक्तिके लिये लिखे हैं। इस समय प्रायः चन्दा जमा करके यज्ञ रचाए जाते हैं।

यज्ञका उद्देश्य विश्वशान्ति बतलाया जाता है, जबसे यह यज्ञ होने लगे हैं, शान्तिके स्थानपर अशान्ति अधिक होने लगी है। साधारण प्रजामें भ्रम उत्पन्न किया जा रहा है। आर्य समाजमें इन यज्ञोंके प्रवर्तक प्रायः अपढ है। उन्होंने अपने साथ कुछ पढे हुए अवश्य मिला लिये हैं। वह भी दक्षिणा प्रेमी अथवा सर्व प्रियताके रोगी ही हैं। इसलिये इस प्रथाका विरोध होना आवश्यक है।

आर्यसमाजमें पं० जयदेव शर्माजी वेद भाष्यकार, स्वामी वेदानन्दजी महाराज, पं० ईश्वरचन्द्रजी आदि अनेक मीमांसाके ज्ञाता हैं। उनको चाहिये श्रौत यज्ञोंकी युक्तियुक्त शास्त्रानुकूल विधि लिख दें। ता कि उनका प्रचार हो अन्यथा—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं, न परांगतिम् ॥
(गीता)

ब्रह्मपारायण यज्ञोंकी अशास्त्रीयता

लेखक— श्री. पं. वीरसेन, आयुर्वेदालङ्कार.

पारायण यज्ञोंकी शास्त्रीयता व अशास्त्रीयताके विषयमें आर्य विद्वानोंमें यदा-कदा अनुकूल एवं प्रतिकूल चर्चा होती रहती है। अभीकी चर्चाओंमें पारायण यज्ञके पक्षमें जो स्पष्ट प्रमाण उपस्थित किये गये हैं वे निम्न हैः—

(१) शातातपस्मृतिमें: कुष्ठ रोग निवारणके लिये।

(२) ऋग्वेद कल्पद्रुममें पलाशकी समिधा एवं घृतसे हवन जिसका फल शीघ्रगामी अश्वोंका शत्रुओंपर विजयी होना, अत्यन्त चमकती हुई कीर्ति प्राप्त करना, अपनी इन्द्रियोंकी कुप्रवृत्तिके अथवा मनुष्योंकी कुसंगतिसे पाप न होना और पापोंका नाश करना।

(३) शांखायन गृह्यसूत्रमें अक्षत सत्तूधानोंको दही और घृतसे मिश्रित करके ऋग्वेद संहिताके प्रत्येक मन्त्रसे आहुति दें ऐसा विधान है।

इन ग्रन्थों द्वारा संहिता होम जिसका वर्तमान नाम करण ' ब्रह्म पारायण यज्ञ ' किया गया है, उसकी प्राचीनता और शास्त्रीयता बड़ी प्रसन्नतासे प्रतिपादित कर दी गई। यतः यह प्राचीन यज्ञ है और उक्त ग्रन्थोंके प्रमाणसे इसकी वैधानिकता जिन्होंने मान्य की है उनको चाहिये कि वे उक्त ग्रन्थोंमें उल्लिखित अन्य यज्ञोंकी भी मान्यता स्वीकार करें अथवा न्यूनसे न्यून उक्त ग्रन्थोंमें उल्लिखित ब्रह्म पारायण यज्ञका उद्देश्य या उसके फलको भी उसी प्रकार मान्यता देकर उसी विधिके अनुसार पारायण यज्ञोंको करें। परन्तु पारायण यज्ञकर्त्ता ऐसा नहीं करते हैं। उन्हें चाहिये कि वे जब ऋग्वेद पारायण यज्ञ शांखायन गृह्य सूत्रके उद्देश्य व फलके लिये करें तो अक्षत सत्तू धानोंको दही घृत मिलाकर आहुति देवें। यदि ऋग्वेद कल्पद्रुमके विधानसे करें तो घी व पलाशकी समिधासे ही हवन करें अथवा जहाँ जहाँ कुष्ठ रोगी व कुष्ठाश्रम हों वहाँ शातातपस्मृतिके विधानानुसार यज्ञ करें।

परन्तु अब तक जितने भी ग्रन्थोंके प्रमाण दिये गये हैं उनके अनुसार यह यज्ञ नहीं हो रहा है और न उस फलकी प्राप्तिके लिये किया गया है तब वर्तमान पारायण यज्ञोंकी शास्त्रीयता कैसे सिद्ध हुई? कोई व्यक्ति आर्यसमाजके नियमोंका पालन न करे और अपनेको आर्यसमाजी कहे तो उसकी आर्यसामाजिकता कैसी? केवल नामके साम्यसे उसकी यथार्थता नहीं हो सकती है। पारायण यज्ञ करनेवाले अपनी इच्छा अनुसार ही सब करते हैं, शास्त्र-विधिका अनुसरण करके नहीं करते हैं।

इसके अतिरिक्त इनका जो प्रचलन किया गया है वह इस उद्देश्यसे नहीं किया गया है कि अमुक प्राचीन ग्रन्थमें इसका विधान है और अमुक फल उद्दिष्ट है अतः संहिता होम या पारायण यज्ञ करना चाहिये। ये यज्ञ वर्त्तमानमें किस प्रकार प्रारंभ हुए और वर्त्तमानमें क्या हो रहा है इसका विवेचन कटु है। ये यज्ञ पहले प्रारम्भ कर दिये गये और उनकी शास्त्रीयता चौथाई शताब्दि बाद ढूंढी जाने लगी और अब उनपर शास्त्रीयता थोपी जा रही है। यदि इस यज्ञके नामकी प्रामाणिकता किसी भी रूपमें ढूंढ की गई है तो प्रचलित विधिकी विधिहीनता प्रकट हो जाती है। जब विधिहीनता प्रकट होती है तो ऐसे यज्ञोंकी गणना तामस यज्ञोंमें हो जाती है। अतः उक्त ग्रन्थोंके आधारपर वर्त्तमानमें प्रचलित पारायण यज्ञोंकी शास्त्रीयताका प्रतिपादन असंगत हो जाता है। इनकी शास्त्रीयता तो तभी होती जब शास्त्रके वचनोंका पालन करनेके लिये उसमें उल्लिखित फलके उद्देश्यसे, उसमें निर्दिष्ट विधिके अनुसार यह यज्ञ किये जाते।

इसके अतिरिक्त इन यज्ञोंको वेदानुकूल प्रतिपादित करनेके लिये जो प्रमाण एवं युक्तियाँ उपस्थित की गई हैं उनमेंसे किसी भी प्रमाण या युक्तिसे पारायण यज्ञकी वेदानुकूलता प्रमाणित नहीं होती है। उनकी युक्तियोंके अनुसार तो वेद

मन्त्रोंसे किया गया कोई भी कार्य या यज्ञ चाहे वह पौराणिक हो या वाममार्गी हो, चाहे महीधरादि द्वारा अनुमोदित हो सभी वैदिक या वेदानुमोदित हो जावेंगे। 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो' से सूर्यग्रह पूजा 'शंनोदेवी रभिष्टय' से शनिग्रह पूजा करनेवाले भी अपनेको वैदिक ही मानते हैं और इन कार्योंको आर्यसमाजी पाखंड ही मानते हैं। यद्यपि पारायण यज्ञकर्ताओंकी युक्तियोंसे इससे वेद मन्त्रोंकी रक्षा, प्रचार व पठना होनेसे वेदका खंडन तो नहीं अपितु मंडन होनेसे यह पाखंड नहीं ठहरता। जिस किसी मन्त्रसे किसी भी उद्देश्यसे आहुति देनेको युक्ति युक्त यज्ञ मान लेनेपर तो शास्त्रोंमें प्रतिपादित या महर्षि द्वारा निर्दिष्ट यज्ञों व संस्कारोंकी समाप्ति हो जाती है। फिर तो सभी यज्ञ विधियुक्त हो जावेंगे 'सर्वं वै पूर्णस्वाहा' से अग्न्याधान 'एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह' से यज्ञोपवीत धारण 'रेतो मूत्र विजहाति योनिं' से आशी" र्वाद एवं 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या' से संन्यास कार्य व संध्या भी हो सकेगी। अन्त्येष्टिके मन्त्रोंसे विवाह 'विवाहके मन्त्रोंसे उपनयन, समावर्त्तनके मन्त्रोंसे गर्भाधान और गर्भाधानके मन्त्रोंसे वेदारंभ करनेमें दोष न होगा।

वेदोंका पारायण या पाठ करना एक बात है परन्तु उसको यज्ञमें क्रियान्वित करना एक पृथक् बात है। दोनोंको एक कर देना असंगत है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति यदि कहे कि मैं सम्पूर्ण संस्कार विधि पारायण यज्ञ करना चाहता हूं और उससे सारे संस्कार कर डाले। यह एक अत्यन्त हास्यास्पद कार्य होगा। सम्पूर्ण संस्कार विधिसे तो सारे जीवनमें यज्ञ पूर्ण होगा। एक व्यक्ति एक दिनमें स्वाध्याय निमित्त तो अनेक बार अन्त्येष्टिके मन्त्रोंका पारायण कर सकता है, स्वाध्याय निमित्त सन्ध्याके मन्त्रोंका अनेक बार पाठ कर सकता है, विवाह व गर्भाधानके मंत्रोंका अनेक बार पारायण (पाठ) कर सकता है परन्तु अन्त्येष्टि यज्ञ तो तभी होगा जब कोई मृतक होगा, विवाह तो तभी होगा जब वर वधू होंगे उपनयन तभी होगा जब बालक उपस्थित होगा और संध्या दिनमें दो बार ही करनी होगी। अर्थात् पारायण यदि करना है तो वेदोंका पारायण स्वाध्यायादि खूब करो परन्तु पारायण द्वारा बिना अर्थज्ञान व क्रिया शून्यतासे यज्ञ कैसे? संपूर्ण वेदोंसे यज्ञ तो सम्पूर्ण जीवनमें ही हो सकेगा। यह तो यज्ञका पाखंड हुआ यज्ञ नहीं। वेदकी रक्षा नहीं हुई वेदके नामपर अनर्थका प्रचलन हुआ और जनतामें अज्ञानताका प्रसार हुआ।

महर्षिने सत्यार्थ प्रकाशके तृतीय समुल्लासमें मन्त्र पढकर होम करनेका क्या प्रयोजन है इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि 'मन्त्रोंमें वह व्याख्यान है जिसमें होम करनेके लाभ विदित हो जांय अर्थात् जो जो यज्ञ जिस प्रकारका हो उसके अनुरूप मन्त्रोंका होना आवश्यक है यह बात ज्ञात होती है और उसी क्रमसे पंच महायज्ञोंमें मन्त्रोंका चयन एवं षोडश संस्कारोंमें मन्त्रोंका ग्रथन किया गया है। यदि यह आवश्यक नहीं होता और किसी भी मन्त्रसे कुछ भी क्रिया करना व स्वाहा करके आहुति देनेसे कार्य सम्पन्न करना युक्ति युक्त मान्य होता तो प्रार्थनाके आठ मन्त्रों या केवल एक गायत्री मन्त्रसे सन्ध्या, हवन, बलि वैश्वदेव, गर्भाधान, विवाह, उपनयन, नामकरण व अन्त्येष्टि सभी कर्म सम्पन्न हो सकते थे। 'बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे' को माननेवाले महर्षिने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें लिखा है कि— "इसलिये जो जो कर्मकांड वेदानुकूल युक्ति प्रमाण सिद्ध है उसीको मानना योग्य है अयुक्तको नहीं" यह स्पष्ट घोषणा कर दी। परन्तु पारायण यज्ञोंका वर्तमानमें अनुष्ठान मन्त्रार्थ क्रियाहीन एवं विधिरहित है अतः त्याज्य ही हैं। इसके अतिरिक्त महर्षिने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें ऐसे ग्रन्थोंको जो 'पाप निवारण विधायक' हैं उनको त्याज्य माना है। ऋग्वेद कल्पद्रुमादि ग्रंथोंने सहिता होम (ब्रह्म पारायण यज्ञ) द्वारा "पाप क्षय कामनापि संहिता होमो विधेय इति" ऐसा आदेश किया है अतः ऋषिके मन्तव्यानुसार उक्त ग्रंथोंका प्रामाण्य नहीं रहता।

महर्षिके लेखोंमें जहां वेदसे यज्ञ करनेका विधान है उसका तात्पर्य यह लगाना कि सम्पूर्ण वेदसे पारायण यज्ञ करना यह नितान्त असंगत होगा। महर्षिके समयमें ऐसे अनेक यज्ञ होते थे जो तन्त्रमन्त्रोंसे होते थे, ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं फट् स्वाहा, ओं, चामुण्डायै स्वाहा इसी प्रकारके ग्रन्थोंसे वाममार्गी यज्ञ एवं वेद मंत्रोंसे भी अनेक अयुक्तियुक्त, अश्लील तथा हिंसापरक यज्ञ हो रहे थे, अतः महर्षिने

वेदोंसे यज्ञ करनेका तथा वेदोंसे भी किये जानेवाले युक्ति युक्त सर्व हितकारी यज्ञोंको करनेका आदेश दिया। अतः वेदसे यज्ञ करनेके उनके लेखको पारायण यज्ञ परक लगाना संगत नहीं है। तथा महर्षिने वेदसे यज्ञ करनेके लिये यज्ञोंका पृथक् पृथक् विधान किया है।

इसी प्रकार वेदके जितने भी प्रमाण देकर पारायण यज्ञोंका समर्थन किया जाता है वे भी किसी प्रकार उसकी पुष्टि नहीं करते। उदाहरणार्थ—

'यज्ञं विमाय कवयो मनीषा ऋक्सामाभ्यां प्ररथं वर्तयान्ति' (ऋग्वेद १०।१४।६)

इस मन्त्रके 'यज्ञं' ऋक्सामाभ्यां प्रवर्तयन्ति इन शब्दों' से ऋक् व साम वेद पारायण यज्ञका अर्थ सायण एवं श्री पं. जयदेवजी विद्यालंकारके भाष्य द्वारा सिद्ध करना चाहा। परन्तु वेदके " कवयः मनीषा यज्ञं विमाय " इन शब्दोंके अर्थोंपर कुछ भी विचार नहीं किया। वेद इस मंत्र द्वारा स्पष्ट कहता है कि 'क्रान्तदर्शी बुद्धिमान जन बुद्धिसे ऋग्वेद और सामवेदसे यज्ञका विशेष ज्ञानपूर्वक निर्माण करके रमणीय सर्वप्रिय यज्ञको करते हैं। अब पाठक ही बतावें ऋग्वेद व सामवेदसे यज्ञका विशेष ज्ञानपूर्वक क्रांतदर्शी, बुद्धिमान-जन बुद्धिसे निर्माण करनेका अर्थ क्या पारायण यज्ञमें संगत है? पारायण यज्ञमें बुद्धिका क्या काम? न यज्ञके विशेष ज्ञानकी। आजकल आर्यसमाजमें अनेक शास्त्रीजी हैं जो बडे आनंदसे बिना किसी साधारण पंडितकी सहायतासे ब्रह्म पारायण महायज्ञ (चतुर्वेद पारायण) का आचार्यत्व भी करते हैं और उनके जीवनका यही कार्यक्रम भी बना हुआ है।

इसी प्रकार—

'चत्वारो वै वेदाः। वेदैर्यज्ञ स्तायत'॥
यज्ञं व्याख्यास्यामः। स वेदैर्विधीयते ॥
वेदास्तावत् यज्ञ कर्म प्रवृत्ताः ॥

इत्यादि प्रमाणोंसे पारायण यज्ञोंकी शास्त्रीयता पुष्ट नहीं होती। इनका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि यज्ञ वेदोंसे करने चाहिये। महर्षिने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें स्पष्ट लिखा है कि 'यज्ञमें वेद मन्त्रोंको छोड दूसरेका पाठ न करे। सब उत्तम कर्म वेद मन्त्रोंसे ही करना उचित है'।

यदि वेदोंसे यज्ञ करनेका तात्पर्य पारायण यज्ञ है तब तो एक वेद पारायण भी अशास्त्रीय ठहरेगा और केवल चतुर्वेद पारायण ही संगत रहेगा। इसके सिवाय अन्य सब होम जिनको महर्षिने करनेको लिखा है वे भी वेदसे नहीं किये जाते हैं ऐसा मानना पडेगा और उनकी यज्ञ संज्ञा भी न रहेगी क्योंकि वे चारों वेदोंसे नहीं होते हैं। अतः उक्त प्रमाणों द्वारा पारायण यज्ञकी शास्त्रीयता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती है। यदि ऐसे ही अर्थोंका अनर्थ किया जावे तो 'पृथिवी वेदयजनि' के अनुसार सारी पृथ्वीमें असंख्याहुति यज्ञके लिये एक वेदी ही बना देनी होगी।

महर्षिके जितने भी उद्धरण दिये हैं उनमें कहीं भी ऐसा कोई लेख नहीं जो एक वेद या सम्पूर्ण चारों वेदोंसे यज्ञ करने विषयक हो। वेदोंसे यज्ञ करनेके लिये इन्होंने पंच महायज्ञ षोडश संस्कार तथा दर्शेष्टिसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञोंको करनेको लिखा है।

पारायणके समर्थनमें महर्षिके वचनोंके उद्धरण देकर पारायण यज्ञ समर्थकोंको यही लिखना पडता है कि 'इससे पारायण यज्ञका भाव प्रकट होता है' अथवा 'इससे पारायण यज्ञकी ध्वनि प्रकट होती है'। इन शब्दोंका तात्पर्य स्पष्ट है कि महर्षिके शब्दोंमें स्पष्ट रूपसे तो उन्हें कहीं भी पारायण यज्ञका उल्लेख नहीं मिलता है केवल उन्हें उसका भाव ही झलकता है जो एक भ्रान्ति मात्र है। किन यज्ञोंको करना चाहिये इस बारेमें महर्षिने अपने ग्रन्थोंमें स्पष्ट उल्लेख किया है आर्यजनता महर्षिके निम्न स्पष्ट शब्दोंकी अवहेलना न करती हुई पारायण यज्ञोंके मोहमें न फंसे।

(१) 'अग्नि होत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च;'' वायु और वृष्टि जलकी शुद्धि द्वारा अग्निहोत्रसे लेकर अश्वमेध यज्ञोंसे सब सृष्टिका उपकार सदा करते रहो।'

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका,
(शताब्दि संस्करण पृ. ३९३)

(२) 'अग्निहोत्रं च०,
'अग्नि होत्रसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त होम करके सब जगतका उपकार करनेमें सदा यत्न करना चाहिये'

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
(शताब्दिसंस्करण पृ. ९१)

(३) (यज्ञो) अश्वमेधादि शिल्पक्रियामयो वा (स्तोमः) स्तुतिसमूहः (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम् (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम् (साम) सामवेदाध्ययनम् चकारादथर्व-वेदाध्ययनं च।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका शा० सं० पृ० ४५२

(४) 'अग्निहोत्रसे लेके अश्वमेध पर्यन्त किसी यज्ञकी समाप्ति ' ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका शा० सं० पृ० ६२०

(५) 'जो कर्म अग्निहोत्रसे लेके अश्वमेध पर्यन्त ' ऋ० भा० भू० पृ० ६८४

(६) 'ऋग्भिस्तुवन्ति यजुभिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति' ऋ० भा० भू० पृ० ६८६

(७) 'अग्निमीडे' इस मन्त्रके भाष्यमें जो तीन प्रकारका यज्ञ लिखा है एक तो अग्निहोत्रसे लेके अश्वमेध पर्यन्त, दूसरा प्रकृतिसे लेके पृथ्वी पर्यन्त जगत्का रचना रूप तथा शिल्प विद्या और तीसरा सत्संग आदिसे जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है। ऋ० भा० भू० पृ० ३३५.

(८) 'वेद मन्त्रों करके अग्निहोत्रसे लेके अश्वमेध पर्यन्त ' ऋ० भा० भू० पृ० ३३३.

(९) 'जो अग्निहोत्रसे लेके अश्वमेध पर्यन्त जो कर्म कांड है ' ऋ० भा० भू० पृ० ३१६.

(१०) 'सब कर्मकांड अग्निहोत्रसे लेके अश्वमेध पर्यन्त' भ्रांतिनिवारण शताब्दि संस्करण पृ० ८८३

(११) 'दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्रसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ '

सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास

(१२) 'यज्ञ जो अग्निहोत्रसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त (आर्योद्देश्य रत्नमाला)

इत्यादि अनेक उद्धरण हैं जो इतने स्पष्ट हैं कि उनसे पारायण यज्ञका किसी भी प्रकारका भाव प्रकट हो ही नहीं सकता। यदि पारायण यज्ञ आर्षग्रन्थानुमोदित होता और इतना आवश्यक होता कि विहित यज्ञोंकी पौन शताब्दि तक अवहेलना करते हुए इनको करना आवश्यक होता, तो महर्षि अवश्य ही इस आवश्यक महायज्ञका कहीं न कहीं निर्देश करते परंतु ऐसा कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। अत पारायण यज्ञ अशास्त्रीय अयुक्तियुक्त वेदों द्वारा अननुमोदित तथा महर्षि द्वारा हेय कोटिके ही हैं। यदि भ्रांतिवश इसको किसी कारणसे स्वीकार कर लिया है तो अब इसे छोड देना ही योग्य है और आर्ष प्रणालीके अनुसार सत्यको ग्रहण कर असत्यको त्यागनेमें उद्यत रहकर 'पुंस' शब्दको सिद्ध करनेके तुल्य अनार्षस्वभावको नहीं अपनाना चाहिये।

महर्षिके 'अग्निहोत्रसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त ' इन शब्दोंका क्या अर्थ है जो कि अनेक बार उन्होंने अपने विभिन्न ग्रंथोंमें लिखे हैं। इसका अर्थ सर्वसाधारण भी समझ सकते हैं। अग्निहोत्रसे लेकर अश्वमेध यज्ञ पर्यंत यज्ञोंकी शृंखलामें पारायण यज्ञकी स्थिति कहां है या कहाँ हो सकेगी ?

पारायण यज्ञोंके पक्षमें एक और युक्ति दी जाती है कि वेदोंके अध्ययनका और वेदोंके प्रचारका एक अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है। मेरा तो ऐसे महानुभावोंसे निवेदन है कि किंचित विचारे कि यदि वेदोंके स्वाध्यायका साधन यज्ञोंको बना लेंगे तब तो वेदोंका अध्ययन और प्रचार सर्वथा लुप्त हो जायगा जैसा कि अब हो रहा है। पारायण यज्ञ करना है इसलिये कोई पारायण यज्ञकर्त्ता वेदोंके पढनेके लिये समय नही लगाता। वह समझता है कि पारायण यज्ञसे वेदाध्ययन एवं स्वाध्याय एवं स्वाध्याय हो जायगा और वहींपर गूढ रहस्य खुलेंगे वहींपर उत्तम वातावरणसे बुद्धिमें ग्रहण शक्ति आवेगी। परिणामतः उस वातावरणके अभावमें वह शक्ति नहीं रहेगी जिसमें वे वेदोंका अध्ययन कर सकें और उसको समझ सकें। पारायण यज्ञ करनेवालोंकी यह अनुभवसिद्ध घोषणा है। इसीसे समझ लीजिये कि पारायण यज्ञसे कितनी हानि और मन्द बुद्धिता हो जाती है। पारायण यज्ञकी उपादेयतामें वे जो युक्ति न दें वह थोडी ही है। यहीं पारायण यज्ञकर्त्ता पहले तो प्रतिपादित कर आये कि वेदोंसे यज्ञ होता है और अब कहने लगे कि पारायण यज्ञसे वेदका अध्ययन व स्वाध्याय होगा। महर्षिने तो 'ये वेद विदुस्तैर्विहीन होत्र सम्पादयेयु;' तथा संस्कार विधिमें यज्ञके लिये ऋत्विग्वरणार्थ विद्वान वेदवितका ही वरण करनेको लिखा है अर्थात् वेदादिशास्त्रोंको पढे हुए व्यक्ति द्वारा यज्ञ सम्पादन करनेको लिखा है परन्तु पारायण यज्ञकर्त्ता इस क्रमके विपरीत पारायण यज्ञ द्वारा वेदोंका स्वाध्याय एवं अध्ययन कराना

चाहते हैं। अतः साध्यको साधन और साधनको साध्य बनाकर जनताको पारायण यज्ञकी उपयोगिता प्रकट करना नितांत असंगत ही है।

एक युक्ति यह भी दी जाती है कि एक लक्षाहुति द्विलक्षाहुति, के लिये कुंड व यज्ञशालाका विधान स्वामीजीने संस्कार विधिमें किया है और यह लक्षाहुति पारायण यज्ञों द्वारा ही सभव हो सकती है। अतः पारायण यज्ञके लिये यह पर्याप्त दृढ प्रमाण है इस विषयमें यह विचारना चाहिए कि लक्ष आहुति या द्विलक्ष आहुतिका वहाँ सम्बन्ध कुंडके परिमाण बतानेसे है न कि पारायण यज्ञसे सम्बन्ध है। अतः अब यह विचारना चाहिए कि यह लक्षाहुति किस प्रकार किन मन्त्रोंसे पूर्ण हो। इसके लिये महर्षिके ग्रन्थोंका ही अवलोकन करना चाहिये।

लक्षाहुतिसे तात्पर्य आहुतिकी अधिकतासे है वह नियमित आहुतियोंकी अपेक्षासे अधिकताको प्राप्त होती हुई २५ सहस्र, ५०००० सहस्र, लक्ष वा २ लक्ष अथवा इससे भी अधिक हो सकती है और व्यक्तिके सामर्थ्यपर निर्भर है। निराग्य महोत्सवका कार्यक्रम निर्धारित करते हुए महर्षिने लिखा है कि १० हजार रुपयेके घृतसे होम करना आदि। इसका प्रयोजन घृतकी अधिक आहुतियोंसे ही है पारायण लक्ष नहीं है। घृतकी आहुतिकी अधिकतासे देशमें आरोग्यता वृद्धि एवं सुवृष्टिका लाभ रह लक्ष्य था न कि वेदका पारायण या स्वाध्याय। वहीं पर वेद प्रचारके लिये पृथक् रु. १० हजारका भी उल्लेख है। तात्पर्य यह है कि ऐसे यज्ञोंका लक्ष्य आहुतिकी अधिकता मात्रसे है। महर्षिने अधिक आहुति डालनेके लिये जिन मन्त्रोंका विनियोग किया है उसके उद्धरण निम्न हैं

(१) " सान्ध्योपासन पीछे उक्त मन्त्रोंसे होम करके अधिक होम करनेकी इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्तमें पढकर गायत्री मंत्रसे करे " (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका श० संस्करण पृ० ५७३)

(२) ' और जो अधिक आहुतियां देना हो तो विश्वानि देवसवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रतन्न आसुव॥ इस मन्त्र और पूर्वोक्त, गायत्री मंत्रसे आहुति देवे॥ "

(सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास)

इन वाक्योंका अर्थ स्पष्ट है कि यदि घृतादिकी अधिक आहुति देनी हो तो इस प्रकार दे देवें। अतः लक्षाहुतिकी समस्या इससे हल करनी चाहिये। कुंडके परिमाणसे आहुति देनेवाले भी अधिक बैठ सकते हैं और एक मन्त्रसे अनेक आहुति देनेसे स्वल्प समयमें भी यह कार्य पूरा हो जाता है। लक्षाहुति आदि यज्ञोंका लक्ष्य आहुतिकी अधिकतासे है न कि पारायण यज्ञोंसे है। अतः लक्षाहुतिकी युक्तिसे भी पारायण यज्ञ सिद्ध नहीं होते।

इन पारायण यज्ञों द्वारा किस प्रकार पाखण्डका विस्तार आर्य समाजके अनेक खाकीजी कर रहे हैं और वेद प्रचारकी आडमें अनेक गजल मजूषा छैल, बिहारी, हारमोनियम पंडित क्या क्या अनर्थ कर रहे हैं तथा अनेक अशुद्ध मन्त्रोच्चारण पारंगत ऋत्विज बनकर यज्ञके प्रति श्रद्धावान जनताकी श्रद्धाका लाभ उठाते हुए अपने पाण्डित्य एवं महात्मापनका धंधा चला रहे हैं। यह सब प्रकरण मैं इस लेखमें प्रकट नहीं करना चाहता हूं। इसी पारायण यज्ञके द्वारा आर्य जनताको गत शिवरात्रि पर्वपर ऋषिकी आत्माको शान्ति प्रदान करनेका श्राद्ध कर्म टकारामें किये जानेका प्रलोभन दिया जा रहा था। इसीके द्वारा अनेकबार विश्वशान्तिका प्रलोभन देकर इसका आयोजन किया गया। इसीके द्वारा वेद प्रचारका प्रलोभन देकर अनेक व्यवसायी स्वतंत्र भजनोपदेशकोंको बडी बडी दक्षिणा देकर सभाके वेद प्रचार विभागका तिरस्कार किया गया।

मैं आर्य जनतासे सादर निवेदन करता हूं कि आज लाखों रुपया इन पारायण यज्ञोंके पाखण्डमें नष्ट हुआ परन्तु जिन यज्ञोंको महर्षिने करनेको लिखा है उनको क्यों भुला बैठे? उसी जनताके द्वारा वे उन यज्ञोंको करा सकते थे। परन्तु पारायण यज्ञोंका मोह छूटे तब तो उन वैदिक कर्मकांडका प्रचलन हो सके। आज पारायण यज्ञोंके समर्थनमें लेख व पुस्तकें भी छपने लगी परन्तु इसी धनसे वे दर्शेष्टिसे अश्वमेध पर्यन्त यज्ञोंकी वैदिक विधि प्रकाशित करके जनताका उपकार कर सकते थे परन्तु उद्देश्य जब वैदिक कर्मकाण्डोंका प्रचलन हो तब ही यह संभव है। आज जितना धन इन पारायण यज्ञों द्वारा व्यय हुआ उसके द्वारा एक अच्छा वेद विद्यालय स्थापित हो सकता था। अनेक सुबुद्ध छात्रोंको वेदाध्ययनके लिये छात्र वृत्तियाँ प्रदान कर वेदपाठी, वेदज्ञाता, कर्मकांडके विद्वान आर्य समाजको

उपलब्ध हो सकते थे और वर्तमान समयकी यह दुरवस्था की कर्मकांडकी शून्यता एवं अनभिज्ञता पारायण यज्ञोंके आश्रय न आना पडता। और वेद प्रचारके नाम वेदसे शून्य उपदेष्टाओंके उपदेश व भजन सुनकर वैदिक धर्मकी जय बोलकर अपनेको धन्य न समझते।

अतः आर्य जनता इस मोहमें न पडे। इन पारायण यज्ञोंको पहले हमने किया है तो अब कैसे इन्हें असंगत कहकर छोड दें। सत्यको यथार्थ समझकर उसका ग्रहण करना ही श्रेष्ठ जनोंका काम है।

उक्त लेखके बारेमें श्री पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानंदजीने दीनानगरसे ३१-१-५३ को निम्न सम्मति प्रकट की है-

" आपका पक्ष ठीक है। वेद पारायण नामका कोई यज्ञ नहीं है। अपने लोगोंने ऋषिके यज्ञ लिखनेकी आडमें यह दुष्कार्य आरंभ कर रखा है। इसका निवृत्त होना आवश्यक है। अन्यथा वैदिक धर्मकी हानि होगी तथा साधारण जनतामें भ्रमोत्पन्न होगा "।

ब्रह्मपारायण यज्ञ

[लेखक— श्री. पं. महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर]

ब्रह्मपारायण यज्ञकी शास्त्रशुद्धताके विषयमें पं. धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकारने तथा श्री आचार्य पं. वैद्यनाथजी शास्त्रीजीने बडी चर्चा की, और अन्तमें यह निश्चय किया है कि ब्रह्मपारायण यज्ञ शास्त्रशुद्ध है। अर्थात् चारों वेदोंके मंत्र क्रमपूर्वक बोलना और अन्तमें ' स्वाहा ' का उच्चारण करना यह शास्त्रद्वारा प्रतिपादित यज्ञकी विधि है अतः यह शुद्ध है।

बीचमें विवाहके मंत्र आजांय, उपनयनके आजांय, गृहनिर्माणके आजांय, युद्धके आजांय, अथवा अन्त्येष्टीके भी आजांय। इसकी कोई पर्वाह नहीं। यज्ञकर्ताके घर शान्तिकर्म हो, पुष्टिकर्म हो, विवाह हो, समावर्तन हो, अथवा जो भी कुछ हो। इसका कोई विचार नहीं करना चाहिये। किसी समयमें कैसा भी अवसर हो, वेदका पारायण करना और अन्तमें स्वाहा बोलना और अग्निमें आहुति डालना। बस, ब्रह्मपारायण यज्ञ हुआ और ऐसा करनेसे लाभ ही होगा, हानिकी संभावना नहीं है।

अन्त्येष्टीके मंत्र हों, विवाहके मंत्र हों और समावर्तनके हों, इनके देवता बदलनेसे अर्थ बदलता है। इसलिये शान्तिकर्ममें अन्त्येष्टीके मंत्र बोलनेसे कोई हानि नहीं, ऐसा इन विद्वानोंका प्रतिपादन है !!!

*

पहिली शंका

यदि देवता बदलनेसे अर्थ बदलता है, तब तो मंत्रके साथ हवनके समय ज्ञानपूर्वक देवताका उच्चार करना आवश्यक है। पर स्वाहाकार यज्ञमें अर्थात् ब्रह्मपारायण यज्ञमें देवताका उच्चार प्रतिमंत्रके साथ किसी समय भी किया नहीं जाता। यज्ञ करनेके समय ऐसा बोलते हैं—

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं।
होतारं रत्नधातमं स्वाहा।

ऐसा बोलकर आहुति डालते हैं। पर कभी—

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं।
होतारं रत्नधातमं स्वाहा, अग्नय इदं, न मम।

ऐसा बोलते नहीं। आर्यसमाजियोंने तथा सनातनियोंने किये स्वाहाकार यज्ञ हमने अनेकवार देखे और कईयोंमें हमने भाग भी लिया है। पर किसी भी समय देवता निर्देश किया ऐसा हमने देखा नहीं। आर्यसमाजियोंके किये यज्ञोंमें तो किसीमें भी देवता निर्देश नहीं हुआ यह हमें निःसंदेह पता है। इसलिये देवता बदलनेपर विभिन्न अर्थ होगा, ऐसा माननेपर भी, जहां देवता निर्देश ही नहीं

हुआ, वहां अर्थभिन्नताकी संभावना किस तरह मान सकते हैं? जहां निर्देश विशेष रीतिसे नहीं होता, वहां मन्त्रोक्त देवता जो मन्त्रमें उक्त है, तथा मंत्रपर मुद्रित है, वही होगी और इस कारण अमुक देवतावाले मन्त्र विवाहके विवाह विषयक और अन्त्येष्टीके अन्त्येष्टीविषयक ही होंगे। इस कारण आजकी चालू प्रथाके अनुसार किये जानेवाले ब्रह्मपारायण यज्ञमें न यजमान और नाही ऋत्विज देवता बदलते हैं। इसलिये देवता बदलनेसे अर्थभिन्न होता है, यह युक्ति आजके प्रचलित ब्रह्मपारायण यज्ञके लिये सहायक नहीं होती।

मन्त्रकी या सूक्तकी देवता बदलना यह एक बडा भारी दायित्वका कार्य है। जो प्राचीन देवता है, उनको न मानना और उन सूक्तों या मंत्रोंका देवता दूसरा मानना यह कार्य कौन कर सकता है, इतना आज किसको अधिकार है? इसका हमे पता नहीं है और एक समय देवता बदल कर अर्थ बदलनेकी प्रथा चल पडी तो वह प्रथा कहांतक पहुंचायेगी इसका पता लगाना भी कठीन है।

सनातनी पंडितोंने 'शमग्निरग्निभि'' अथवा "शनो देवीरभि" इन मन्त्रोंमें 'श' अक्षर होनेसे यह मन्त्र 'शनि' देवताके जपके लिये, 'उद्बुध्यस्व' मंत्रमें 'बुध्' धातु है, अर्थात् 'बुध्' अक्षर है इसलिये यह मन्त्र 'बुध्' देवताके जपके लिये माना है। 'केतुं कृण्वन्' यह मन्त्र 'केतु' देवताके जपके लिये, यद्यपि यहांका केतु पद ज्ञानवाचक है तो भी केतु देवताके जपके लिये माना है। 'जातवेदसे' यह मंत्र 'दुर्गा' देवताके लिये माना है, क्योंकि इसमें 'दुर्गाणि' (कष्ट, दुःख, सकटोंका वाचक) पद है। इसलिये यह दुर्गा देवताका माना है!! इस तरह सेंकडों पौराणिक देवताओंके जपके लिये वैदिक मंत्र लिये हैं!!! इनमें एक भी मंत्र अर्थके अनुकूल नहीं है। इतना ही नहीं, पर सबके सब ये देवता बदलनेके प्रकार अर्थके सर्वथा विरोधी हैं। इनको युक्तियुक्त सिद्ध करनेके लिये जो युक्तियाँ पौराणिक देवताओंके लिये वैदिक मंत्र देनेवाले सनातनी पंडितोंने घडीं थी, वे ही युक्तियाँ श्री पं. वैद्यनाथजी आचार्यने अपने लेखमें दी है। देवता बदलना और अर्थ बदलना यह ऐसा शस्त्र है कि वह शत्रुका नाश करे या न करे, पर स्वपक्षका ही विनाश करेगा। आज तक जो जो प्रयत्न देवताओंके बदलनेके विषयमें हुए हैं, उनसे वेदका गौरव बढा नहीं है। इसलिये देवता बदलनेका कार्य साधारण मनुष्य न करेंगे तो ही वेदका गौरव रहेगा।

ईसा--मसी देवता

नहीं तो एक ईसाईने "ईशा वास्यमिदं सर्वं" इस मंत्रमें 'ईसा' देवता है और "मर्ये न योषा" इस मंत्रमें मरियं (मर्य) देवता है। इस तरह ईसा-मसी, ईसा-मरिय ये वेदोक्त देवता हैं। ऐसा सिद्ध किया था। वैसा ही हास्यास्पद वेद बन जायगा। इसलिये हम कहते हैं कि जो देवता प्राचीन आचार्योंने जिस सूक्तकी मानी है, वही उसकी रहने दें, और उसीसे वेदधर्म जितना मानवोंके आचारमें आ सकेगा, उतना आने दें। इतना होनेके पश्चात् आगे विद्वान आ जांयगे अथवा आचार्य उत्पन्न होंगे, वे देवता बदलनेका विचार करेंगे। आजतक देवता बदलनेके जो भी प्रयत्न हुए हैं उनसे धर्मक्षेत्रमें लाभ नहीं हुआ है। और सनातनी पंडितोंने जितने देवता बदले हैं, उनमेंसे एक भी देवता योग्य मानने योग्य नहीं है। इसलिये वे ही युक्तियां देवता बदलनेके और अर्थ बदलनेके विषयमें देनेसे एक अनिष्ट बात ही बढ जायगी और किसी तरह लाभ होनेकी आशा नहीं है।

अब हम कुछ मंत्र बताते हैं जो उस प्रकरणमें ही शोभते हैं, वे हर समय बोलने योग्य नहीं हैं—

विवाहके मन्त्र

(१) गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ ऋ.१०।८५।३६

"हे स्त्री! मैं सौभाग्यके लिये तेरा हाथ ग्रहण करता हूं। तू मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक रह। भग आदि देवोंने मेरे स्वाधीन तुझको गृहस्थ धर्मके अनुष्ठानके लिये किया है।"

(२) ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादात् प्रजापतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥
अथर्व. १४।१।५०

"हे स्त्री! प्रजापतिने तुझे मेरे स्वाधीन किया है, अतः तू मेरे द्वारा पोषण होने योग्य हो, मुझ पतिके साथ रह-

कर तू प्रजावाली बन और सौ वर्षतक आनन्दके साथ जीवित रह। ''

(३) आरोह तल्पं सुमनस्यमाना।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै॥
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना।
ज्योतिरग्रा उषसः प्रतिजागरासि॥
अथर्व. १४।२।३१

'' हे स्त्री ! तू प्रसन्नचित्तसे पतिकी शय्यापर चढ और यहां इस पतिके लिये सन्तान उत्पन्न कर। इन्द्राणीके समान ज्ञानवाली और प्रज्ञावाली होकर प्रतिदिन उषःकालके पूर्व जाग अर्थात् उठ। ''

ये विवाहके मंत्र हैं। देवता बदलकर इन मन्त्रोंका 'स्वाहा' बोलनेसे आशय किस तरह बदल सकता है और बदला भी क्यों जाय ? क्या ये मंत्र जिस प्रकरणमें हैं वे वहां उत्तम शोभा नहीं देते ? घरमें मृत्यु होनेके पश्चात् कुछ दिन व्यतीत होनेपर शान्तियाग करनेके समय इन मन्त्रोंका पाठ करके 'स्वाहा' बोलकर हवन करनेसे क्या बनेगा ? देवता इनका कौन बदल सकता है और क्यों बदले ? पत्नीको संबोधन करनेवाले ये मंत्र हैं। इनका देवता बदल कर 'परमात्मा' देवता माना जाय तो वह इन मन्त्रोंको सुनकर क्या करें ?

अब अन्त्येष्टिके मंत्र देखिये—

अन्त्येष्टीका मन्त्र

(१) सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितं ओषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥
ऋ १०।१६।३

' हे मृत पुरुष ! तेरी आंख सूर्यके पास जावे, तेरा प्राण वायुके साथ मिले, द्युलोक और पृथिवीको तेरे शरीरके अन्य भाग मिले, तेरे अन्दर जो जलका भाग हो वह जल-तत्त्वमें मिले; अन्य भागोंसे औषधियोंमें जाकर रहो।'

(२) प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः॥ ऋ. १०।२०।११

'' हे मृत पुरुष ! जाओ जाओ उन पूर्व मार्गोंसे जिनसे हमारे प्राचीन पूर्वज गये थे।''

(३) अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यः तं निर्वहत परि ग्रामादितः। मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयांचकार॥ अथर्व १८।२।२७

'' हे जीवित मनुष्यो ! इस मृतके साथ घेरकर बैठो ! घरसे तथा ग्रामसे इस प्रेतको शीघ्र बाहर दूर ले जाओ। मृत्यु यमका ज्ञानवान् दूत है। उसने इस मृतके प्राणोंको पितरोंतक पहुंचाया है।''

(४) ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा चोद्धिताः। ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया-मादयन्ते॥ अथर्व. १८।२।३४;३५

'' जो गाडे गये, जो फेंके गये, जो जलाये गये, जो ऊपर रखे गये, जो अग्निद्वारा जलाये, जो जलाये नहीं ऐसे जो मृत हैं वे स्वधासे आकाशमें रहते हैं। ''

इस तरह मृतके विषयमें अन्त्येष्टिके मंत्र हैं। यदि विवाहके पश्चात् गृहशान्त्यर्थ यज्ञ करना हो तो क्या उस शान्ति यज्ञमें ये मंत्र बोलना युक्तियुक्त है ? देवता बदलनेसे भी इनका क्या बनेगा और हठसे देवता किस तरह बदला जायगा और हठसे किसीने बदला तो इनका दूसरा अर्थ कैसा बनेगा ? और ऐसा वेदमंत्रोंपर हठ करना क्या योग्य भी है ?

यदि मंत्रोंमें शक्ति है और यदि वेदमें सत्यज्ञान है, तो मनुष्य अपने हठसे उसमें ऐसा परिवर्तन न करेंगे तो ही अच्छा है।

युद्धके मन्त्र

अब युद्धके मंत्र देखिये—

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥१
समहमेषां स्यामि समोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ २॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवान पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥ ३॥

" जिनका मैं पुरोहित हूं उनका ज्ञान वीर्य और बल मैं तीक्ष्ण करता हूं। इनका क्षात्रबल तीक्ष्ण हो और विजयी हो। मैं इनका सामर्थ्य वीर्य और बल संघटित करता हूं

शत्रुके बाहुओंको मैं काटता हूं। शत्रु नीचे गिर जांय, जो हमारे ज्ञानियोंपर सेना भेजते हैं वे नीचे गिरे। शत्रुओंको मैं क्षीण करता हूं और स्वजनोंकी मैं उन्नति करता हूं।"

इस तरह युद्ध विषयक मंत्र हैं, वे क्षात्रबल बढानेके कार्यके लिये योग्य हैं। इनको हर समय बोलना और उनसे हवन करनेसे कौनसा लाभ होगा? इन मंत्रोंसे युद्ध-के समय काम लेना योग्य है अथवा राज्यशासनमें क्षत्रियोंकी संघटनाके लिये ये मंत्र उपयोगी हैं।

अर्थानुसार प्रकरण बनें

अस्तु इस तरह उदाहरण रूप ये मंत्र दिये हैं। इनसे यही सिद्ध होता है कि सूक्तोंके अर्थानुसार प्रकरण बनने चाहिये और जो कार्य करना हो, उस कार्यके लिये जो मन्त्र समूह योग्य होगा, उसीसे उस कार्यमें हवन करना उचित है। ऊटपटांग मनःकल्पित पद्धतिसे हवन करना और यज्ञ हुआ ऐसा मानना उचित नहीं है। सनातनी पंडित भी चारों वेदोंका स्वाहाकार करनेमें सबके सब ऐकमत्य नहीं रखते और आर्यसमाजी पंडित तो अर्थका मनन करके कार्य करनेवाले पंडित हैं। इनको अपना अनुष्ठान अर्थके अनुसार ही करना चाहिये। मंत्रके अर्थका जहां कोई संबंध नहीं है वैसा अनुष्ठान आर्यसमाजियोंको करना उचित नहीं है।

शातातप स्मृतिको छोडकर किसी भी स्मृतिमें चारों वेदोंके स्वाहाकार यज्ञका नाम भी नहीं है। और शातातप स्मृति आधुनिक होनेमें संदेह नहीं है। जहां यज्ञोंका वर्णन है वहां चारों वेदोंका क्रमपूर्वक स्वाहाकार करनेका उल्लेख ही नहीं है। चारों वेदोंमें तथा ब्राह्मणोंमें सेंकडों यज्ञों और इष्टियोंका वर्णन है। पर चारों वेदोंके मंत्र क्रमपूर्वक बोल-कर स्वाहा कहकर हवन करनेका किसी स्थानपर उल्लेख नहीं है। इसलिये ब्राह्मणग्रंथोंमें ब्रह्मपारायण यज्ञका नाम नहीं है, सूत्रग्रंथोंमें भी नाम नहीं है।

वेद पारायण

सनातनी पंडित प्रतिवर्ष श्रावण मासमें श्रावणी करते हैं और यज्ञोपवीत बदलते हैं। इस समय वे चारों वेदोंके मंत्र बोलते हैं। यह पारायण है। पारायणका अर्थ वेदपाठ है। वेदोंका क्रमपूर्वक उच्चारण, पठण, वाचनका अर्थ पारायण है। पारायण अर्थात् वेदपठन भी एक यज्ञ ही है। जो वेदपाठ करना चाहें वे वेदपाठ करें। वहां हवन नहीं है और श्रौतयज्ञमें ऐसे हवनका उल्लेखतक नहीं है। गुरुकुलोंमें जिस समय ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे उस समय वेदका पारायण क्रमपूर्वक करना पडता था। इस पद्धतिका अनुकरण श्रावण पूर्णिमामें ये लोग करते हैं और नूतन यज्ञोपवीत धारण करते हैं। इसका अनुष्ठान दूसरे समय नहीं होता। हां प्रतिदिन भी ब्रह्मयज्ञके करनेके समय वेदपारायण करना चाहे तो कोई वैसा कर सकता है। इस तरहके वेदपाठका नाम ब्रह्मपारायण है। ब्रह्मपारायण, वेद-पारायण और श्रुतिपारायण एक ही कार्यके नाम हैं। दैनिक पारायण करनेवाले वेदपाठी होते हैं। ये क्रमपूर्वक वेदपाठ करते हैं। पर इस ब्रह्मपारायणमें हवन नहीं है। यह वेदपारायण वेदको कण्ठ करनेके लिये होता है। दूसरा कोई इसका प्रयोजन नहीं है। 'वेदपारायण' के साथ 'यज्ञ' पद लगानेसे 'हवन' होना ही चाहिये ऐसा भाव इससे निकल नहीं सकता, क्योंकि वेदपाठ भी एक यज्ञ ही है। अर्थात् 'वेद-पारायण-यज्ञ' का भाव केवल वेदपाठ ही है और वेदपाठके साथ हवन करना चाहिये ऐसा इसका आशय नहीं है। यद्यपि आर्यसमाजमें हवनका अर्थ रूढ हो चुका है, परंतु वह निराधार है।

सनातनी लोग 'ऋग्वेद स्वाहाकार, यजुर्वेद स्वाहाकार, अथर्ववेद स्वाहाकार, चतुर्वेद स्वाहाकार' ऐसे शब्द प्रयोग करते हैं। सामवेदके मंत्र न गानेके लिये हैं, और न हवनके लिये हैं, इनके गान इनसे पृथक् हैं। इसलिये 'सामवेद का स्वाहाकार' यह अशुद्ध प्रयोग अथवा अशुद्ध प्रथा है। ऐसी हमारी संमति है। यज्ञमें सामवेदके गान (मंत्र नहीं), गायनके लिये होते हैं न कि हवनके लिये। इस कारण साममन्त्रोंसे हवन करना अयुक्त है। वास्तवमें जो सामवेद-के मंत्र हैं वे सब ऋग्वेदके ही मंत्र हैं। जो सामवेदके ६० - ७० मंत्र इस ऋग्वेदीय संहितामें नहीं मिलते हैं, वे सांख्यायन ऋग्वेदमें हैं। तात्पर्य सामवेदके मंत्र ऋग्वेदके ही मंत्र हैं। अतः ऋग्वेदके मंत्रोंसे हवन होनेके पश्चात् पुनः सामवेदमें आये उन्हीं मंत्रों द्वारा पृथक् हवन करनेका कोई तात्पर्य नहीं है। क्योंकि सामगान सर्वथा पृथक् है और उनसे तो हवन होता ही नहीं। जो चारों वेदोंका

स्वाहाकार करते हैं, उनको सामवेद मंत्रोंसे पृथक् हवन क्यों करना चाहिये इसका युक्तियुक्त उत्तर देना चाहिये। हमारे विचारसे सामवेदसे हवन नहीं होना चाहिये अर्थात् चतुर्वेद स्वाहाकार अशुद्ध कल्पना है। यज्ञोंमें उद्गाता सामगान करता है, साममंत्रसे हवन नहीं करता यह वैदिक प्रथा है।

चार वेदोंके स्वाहाकारकी प्रथा, वैदिक नहीं, ब्राह्मण ग्रन्थोक्त नहीं, स्मृत्युक्त नहीं यद्यपि शातातपस्मृतिमें कुष्ठ रोगनिवारणार्थ इसका विधान है तथापि सभी लोग कुष्ठरोगी नहीं हैं और यह विधान किसीने माना भी नहीं है। किसी सूत्रकारने भी चारों वेदोंका स्वाहाकार मान्य किया नहीं है।

आजकलकी प्रथा

आजकलकी यह प्रथा है। प्रथम ऋग्वेदियोंने अपने वेदका स्वाहाकार करना आरंभ किया। जब वह चल पडा तब यजुर्वेदियोंने शुरू किया। स्वतंत्रतया किसी सामवेदी और किसी अथर्ववेदी संघने आजतक किसी स्थानपर स्वाहाकार किया ही नहीं है। पर ऋग्वेदी और यजुर्वेदियोंको देखकर चारों वेदोंके यज्ञकी कल्पना आधुनिक कालमें बढाई जा रही है। पर इसका मूल वैदिक समयमें निश्चयसे नहीं है। अर्थात् वैदिक यज्ञोंमें इसकी गणना नहीं हो सकती।

आजकल **श्रीमद्भगवद्गीता** के श्लोक बोलकर भी हवन करते हैं, सप्त शतिके श्लोकोंके साथ हवन करनेका प्रचार अधिक है। इसी तरहका यह चतुर्वेदका स्वाहाकार है। यह न वेदोक्त है, न सूत्रोक्त है। शातातपस्मृतिसे भिन्न किसी भी माननीय स्मृतिमें इसका विधान नहीं है। सप्तशतिके हवनको देखकर वेदाभिमानियोंने वेदमंत्रोंसे हवन करनेकी प्रथा शुरू की, इससे भिन्न इसके लिये कोई प्राचीन प्रमाण नहीं है।

प्राचीन समयके वेदोक्त यज्ञोंमें किसी भी यज्ञमें किसी भी वेदके मंत्र आद्योपान्त नहीं पढे जाते। जो मंत्र जिस यज्ञमें उपयुक्त होते हैं उतने ही मंत्र उसमें बोले जाते हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेदमें तथा यजुर्वेदमें अनेक यज्ञ हैं, उनमें अध्याय बांटे हैं, जैसे दर्शपूर्णमास अ० १, अग्निष्टोम अ० ४; वाजपेय अ० ९, सौत्रामणी अ० १० अश्वमेध अ० २२; पुरुषमेध अ० ३०-३१; सर्वमेध अ० ३२, पितृमेध अ० ३५ इस तरह यजुर्वेदके अध्याय प्रत्येक यज्ञके लिये बांटे हैं। जो यज्ञ जिसको करना होता है, उस यज्ञके संबंधके ही मंत्र उस यज्ञमें बोले जाते हैं। वह प्रथा योग्य भी है। पर आज आद्योपान्त वेदमंत्र बोलते हैं, हवन करते हैं पर न कोई अग्निष्टोम करता है, न सर्वमेध करता है। पर सब यज्ञोंके मंत्र बोलते हैं और हवन भी करते हैं। इसका अर्थ क्या है? सर्वमेध या अग्निष्टोम करनेवाला उस यज्ञके मंत्र बोले यह ठीक है। पर ब्रह्मपारायण नामक आजकलके यज्ञमें सभी यज्ञोंके मंत्र तो बोले जायगे, पर एक भी यज्ञ निश्चयसे नहीं किया जायगा। यह कितना आश्चर्य है!!!

इसलिये हमारा कहना यह है कि यह निराधार प्रथा चल पडी है, इसको रोकना चाहिये और मंत्रोंके अर्थानुसार संग्रह करके जिसको जो कार्य करना है, वह उस कार्यको करे और उस समय उस कार्यके योग्य मंत्र ही बोले और बाकीके मंत्र बाकीके कार्योंके लिये रहें।

यज्ञकी व्यवस्था करनी चाहिये और इसके लिये मंत्रोंका अर्थानुसार वर्गीकरण करना चाहिये यह पहिला कार्य है। इसमें देरी नहीं होनी चाहिये। सूक्त न तोडकर सूक्तोंके ही संग्रह विषयानुसार किये जांय और किस कर्ममें किस संग्रहका उपयोग लोग करें इसकी एक भूमिका तथा तदनुसार एक सूची की जाय। जिससे यज्ञ कार्य अच्छी तरह चल सकेगा और आजकी अनवस्था दूर होगी।

आशा है विचार करनेवाले वेद धर्माभिमानी इसका योग्य विचार करेंगे।

ब्रह्मपारायण यज्ञके विषयमें

(श्री सम्पादक 'वैदिक धर्म' के पास आयी)

आर्य विद्वानोंकी सम्मतियाँ

(१) 'आपने जो 'ब्रह्मपारायण यज्ञ' के विषयमें विचार प्रगट किये हैं वे अत्युत्तम हैं। मैं उनसे सर्वांशमें सहमत हूँ। इस विचारपूर्वक लेखके लिये धन्यवाद स्वीकार कीजिये।' आपका

हरिदत्तशास्त्री विद्याभास्कर एम. ए आगरा

(२) 'आपका 'ब्रह्मपारायण' पर भेजा वक्तव्य पढा। आपका लिखना ठीक है। न यह श्रौत है, न गृह्य, न स्मार्त। जैसे दुर्गा सप्तशतिके प्रत्येक श्लोकसे या तुलसी रामायणकी प्रत्येक चौपाईसे यत्रतत्र हवन होते हैं तद्वत् ही यह यज्ञ भी है।' भवदीय

युधिष्ठिर मीमांसक, अजमतगढ पैलेस, बनारस

(३) 'देवानामपि पन्थामगन्म' ऋ १०-२-६ हम देवोंके ही पथपर चला करें। 'ब्रह्मपारायण यज्ञकी शास्त्रीयता' के विषयमें आपने जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे मैं अक्षरशः सहमत हूँ। आपने इस ओर ध्यान देकर एक बडा ही लोकहितकारक पग उठाया है।

प्रभुमें,

विद्यानन्द विदेह, लखनऊ (वेदप्रचार यात्रामें)

संपादकीय निवेदन

[इस अंकमें ३ लेख ब्रह्मपारायणके विरोधमें छापे हैं। तीन विद्वानोंकी संमतियां भी छापी हैं। इस चर्चाको अब हम यहां ही समाप्त करते हैं। आगे किसी पक्षके लेख नहीं छापे जांयगे। हमारा पक्ष हमने प्रथम ही प्रकाशित किया है। विषयवार मंत्र संग्रह शीघ्र तैयार करना चाहिये। श्री सा० आ० प्र० सभा चुप क्यों बैठी है; हमारी समझमें नहीं आता। जनतामें इतनी चर्चा इतने महीनोंतक चलनेपर भी श्री सा० सभा चुप रहे यह आश्चर्य है।]

पारडी

२१।४।५३

श्री. दा. सातवळेकर

संपादक वैदिक धर्म

दिव्य जीवन

(श्री अरविन्द)

[अनुवादक — चन्द्रदीप]

अध्याय ४

सर्वगत सद्वस्तु

(१) असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
आस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदु ॥

तैत्तिरीय उपनिषद्- २. ६

यदि कोई उसे असत् ब्रह्मके रूपमें जानता है, तो वह केवल असत् ही हो जाता है । यदि कोई जानता है कि ब्रह्म है, तब वह जीवनमें आत्मस्वरूप माना जाता है ।

अब, जब कि इन दोनोंके दावोंको हम स्वीकार कर लेते है, विशुद्ध आत्माके इस दावेको कि वह हमसे अपनी निरपेक्ष स्वतन्त्रताको प्रकटावेगा और विश्वव्यापी जडतत्वके इस दावेको कि वही हमारे प्राकट्यका साचा और शर्त बनेगा तब हमें एक ऐसे सत्यका पता लगाना होगा जो इन प्रतिपक्षियोंमे पूरा-पूरा मेल करा दे सके और दोनोंको जीवनमें उनका प्राप्य स्थान तथा विचारमें उनका प्राप्य औचित्य दे सके, न तो किसीके अधिकारपर कुठाराघात करे, न किसीमें उस परम सत्यका होना अस्वीकार करे, जिससे कि इनकी भ्रांतियोंतकको, इनकी अतिशयोक्तियों अनन्यतातकको सदा बल मिलता रहता है । क्योंकि जहां कहीं हमें कोई ऐसी आत्यतिक उक्ति मिलती है जिसका मानव-मनपर इतना जोरदार असर होता है, वहां हा हमें निश्चित रूपसे यह समझ लेना चाहिये कि वह केवल भ्रांति, अंधा विश्वास या मतिभ्रम ही नही है, बल्कि उसके अदर दिया हुआ कोई परम प्रतापी तथ्य है, जिसकी यह मांग होती है कि हम उसको आदरके साथ स्वीकार करे और जो कहीं हमने उसको अस्वीकार किया या उसका बहिष्कार किया तो वह बदला लिये बिना नहीं रहेगी । यही कारण है कि इस प्रश्नका संतोषप्रद समाधान करना सदा कठिन होता है और आत्मा तथा जडतत्वमें जो सुलह करायी जाती है वह स्थायी नहीं रहती । सुलह एक व्यापार है, दो विरोधी शक्तियोंके स्वार्थोंमें पारस्परिक लेन-देन मात्र है, सच्चा मेल नहीं । सच्चा मेल तो सदा पारस्परिक समझ और अपनायतसे पैदा होता है और बादमें वह हमें किसी घनिष्ट ऐक्यमें जोड देता है । अतएव आत्मा और जडतत्वको यथासभव ऐक्य सूत्रमें बांधकर ही हम इनके मिलनकारी सत्यतक पहुच सकते हैं और इस प्रकार एक ऐसी सुदृढ नींवको पा सकते हैं जिसपर व्यक्तिके आंतर और बाह्य जीवनमें सामंजस्यकारी आचरणकी इमारत खडी की जा सके ।

विराट्-चैतन्यमें हमें एक मिलाप-स्थल मिल चुका है जहां जडतत्व आत्माके लिये सत्य हो जाता है और आत्मा जडतत्वके लिये । क्योंकि विराट्-चैतन्यमें मन और प्राण माध्यम है न कि एक ही अज्ञेय सद्वस्तुके भावात्मक और अभावात्मक तत्वोंमें भेदके उत्पादक कृत्रिम विवादके प्ररोचक, जैसा कि वे सामान्य अहंभावापन्न मनोवृत्तिमें प्रतीत होते हैं । विराट्-चैतन्यको प्राप्त होनेपर मन, जो कि अब एक ऐसे ज्ञानमें सबद्ध होगया होता है जो एकत्वके सत्यका और बहुत्वके सत्यका युगपत् बोध करता है और जो इनकी पारस्परिक क्रियाके सूत्रको पकड लेता है, यह पाता है कि उसके अपने विसवादोंकी कैफियत भागवत सामजस्यने दे ही दी है और उसने उनमें मेल स्थापित कर दिया है इस कैफियत और मेलसे सतुष्ट होकर वह ईश्वर और जीवनमें परम ऐक्य करा देनेका साधन बनकर काम करना स्वीकार करता है, उस ऐक्यको करा देनेकी ओर ही हमारा सारी प्रवृत्ति है । अनुभवशील बुद्धि और सूक्ष्मीभूत इंद्रियोंके आगे जडतत्व परमात्माके आकार और देहके

रूपमें प्रकट होता है— उस परमात्माके जो अपने रचनात्मक प्रसारके रूपमें है इन्हीं अनुकूल प्रतिनिधियोंके द्वारा आत्मा जडतत्वके प्राण सत्य और साररूपमें प्रकट होता है। दोनों ही एक दूसरेको दिव्य, वास्तव और साररूपसे अभिन्न मानते और स्वीकार करते हैं। इस प्रकाशमें मन और प्राण परम चिन्मय सत्ताके युगपत् आकार और यंत्ररूप प्रतीत होते हैं, जिनके द्वारा परम सत्ता अपने आपको जडप्राकृतिक रूपमें प्रसारित करती और उसमें वास करती है और इस प्रकार रूप धारण कर अपनी चेतनाके असंख्य केंद्रोंके आगे अपने-आपको अनावृत करती है। मन तब अपनी परिपूर्णताको प्राप्त होता है जब वह उस परम सत्ताके सत्यका एक स्वच्छ दर्पण बन जाता है जो विश्वके प्रतीकोंमें अपने आपको व्यक्त करती है, प्राण तब जब कि वह विश्व-जीवनके नित्य नव नव रूपों और क्रियाओंमें भगवान्के सर्वांग सम्पूर्ण रूपायनके प्रति अपनी शक्तियोंको लगा देता है।

इस धारणाकी दृष्टिसे हम मनुष्यके लिये इस जगत्में एक ऐसे दिव्य-जीवनकी संभावनाको देख सकते हैं जो एक ओर विश्व-विवर्तन और पार्थिव विकासके जीवंत ज्ञान तथा बुद्धिगम्य लक्ष्यको प्रकट कर सायंसकी उपयोगिताको सिद्ध करेगा और दूसरी ओर मानव-आत्माको भागवत आत्मामें रूपांतरित कर सभी उत्कृष्ट धर्मोंके महान् आदर्श स्वप्नको सफल करेगा।

तब फिर उस निष्क्रिय, विशुद्ध, स्वयंभू, आत्ममग्न, नीरव, शांत ब्रह्मका क्या हुआ जो संन्यासीकी भावनाका स्थायी समर्थन करता हुआ हमारे सामने प्रकट हुआ था। यहां भी उद्बोधक सत्य (सामंजस्य) होना चाहिये न कि असंधेय विरोध। शांत निष्क्रिय ब्रह्म तथा सक्रिय ब्रह्म कोई भिन्न, विरोधी और असंधेय सत्ता नहीं है जिनमेंसे एक जगत्-प्रपंचको अस्वीकार करता हो और दूसरा इसकी पुष्टि करता हो, बल्कि ये एक ही ब्रह्मके भावात्मक और अभावात्मक दो पहलू हैं, और एक पहलू दूसरे पहलूके लिये आवश्यक और पूरक है। इस नीरवता और शांतिसे ही जगतोंका स्रष्टा शब्द ब्रह्म सदा निर्गत होता रहता है, क्योंकि शब्दब्रह्म उसीको व्यक्त करता है जो नीरवताके अंदर छिपा हुआ है। शाश्वत निष्क्रियतासे ही विश्वके असंख्य लोकोंमें शाश्वत दिव्य कर्मण्यताकी पूर्ण स्वतंत्रता और सर्व शक्तिमत्ता संभव होती है, क्योंकि उस कर्मण्यतासे उत्पन्न हुए भूत मात्र अपनी शक्तियोंको तथा वैचित्र्य और सामंजस्य करनेका उनका जो असीम सामर्थ्य है उसको अक्षर ब्रह्मके निष्पक्ष भर्तृत्वसे तथा इस कर्मण्यताकी अनंत फलोत्पादिका शक्तिमें उसकी जो सम्मति है उससे ही पाते हैं।

मनुष्य भी तभी पूर्ण होता है जब उसने ब्रह्मकी निरपेक्ष स्थिरता और निष्क्रियताको अपने अंदर पा लिया होता है और वैसा ही भागवत सहनशीलता और वैसे ही भागवत आनंदके साथ इस स्थिरता और निष्क्रियताके द्वारा यहांकी अबाध और अक्षय कर्मण्यताको धारण करता है। जिन्होंने अपने अंदर इस स्थिरताको प्राप्त कर लिया है वे सदा यह अनुभव कर सकेंगे कि इस स्थिरताकी नीरवतामेंसे जगत्में कार्य करनेवाली शक्तियोंका अविरत प्रवाह चला आ रहा है। इसलिये यह कहना कि निश्चल नीरवता अपने स्वभावमें विश्व-कर्मण्यताका वर्जन है, सत्य नहीं है। इन दो अवस्थाओंके बीच यह जो आपात दृष्ट अनबन है, यह केवल परिच्छिन्न मनकी भ्रांति है, क्योंकि मन स्वीकार और इनकार रूपी दो तीक्ष्ण विरोधोंका अभ्यासी होनेके कारण तथा सहसा एक छोरसे दूसरे छोरपर संक्रमण कर जानेके कारण किसी ऐसी व्यापक चेतनाकी धारणा नहीं कर पाता जो इन दोनोंका युगपत् आलिंगन कर इन्हें अपनी गोदमें एक साथ बैठा लेनेके लिये काफी विशाल और बलवान है। नीरव शांति जगत्का प्रत्याख्यान नहीं करती बल्कि वह इसको धारण किये हुए है। या यों कहें कि वह समान निष्पक्षताके साथ कर्मण्यताका और कर्मण्यतासे निवृत्तिका पोषण करती है और उस संगतिका भी समर्थन करती है जिससे आत्मा समस्त कर्ममें प्रवृत्त रहते हुए भी मुक्त और स्थिर रहता है।

परंतु फिर भी परम निवृत्ति है, असत् है। प्राचीन शास्त्रका कथन है कि असत्से ही सत् पैदा हुआ १। तब,

---

१ असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। आरंभमें यह सब असत् ही था। उसीसे सत्का जन्म हुआ। तैत्तरीय उपनिषद्— २. ७.

निश्चय ही, इसे उस असत्‌में ही फिरसे निमज्जित हो जाना चाहिये। यदि अनंत निर्विशेष सत् वैशिष्ट्यकी तथा बहुविध अनुभवोंकी समस्त संभावनाओंके लिये अनुमति देता है, तो क्या असत् , जो कि आदिम अवस्था और एकमात्र नित्य सद्वस्तु है अंततः किसी यथार्थ विश्वके होनेकी संभावनाका इनकार और वर्जन नहीं करता ? यदि यह हो तो, कतिपय बौद्ध संप्रदायोंका शून्य ही संन्यासवादका सच्चा समाधान होगा और आत्मा, अहंकारकी ही तरह, मायिक प्रापंचिक चेतनाकी केवल कल्पनात्मक रचना बन जायगा ।

परंतु फिर हम यह पाते हैं कि शब्द हमें भरमा रहे हैं, हमारे परिच्छिन्न मनके तीक्ष्ण विरोध हमें धोखा दे रहे हैं, क्योंकि मन शाब्दिक भेदोंपर बडे अनुरागके साथ निर्भर करता है मानो वे परम सत्योंको बिलकुल ठीक ठीक ही व्यक्त करते हों— और इन असहिष्णु भेदोंकी दृष्टिसे हमारे अतिमानस अनुभवोंकी व्याख्या करती है । असत् केवल एक शब्द है । जब हम उस तथ्यकी जांच करते हैं जिसके लिये इस शब्दका प्रयोग होता है तब निश्चय पूर्वक यह कहना कठिन हो जाता है कि अनंत सदात्मा जैसे मनकी भावनामय रचना मात्र माना जाता है वैसे ही असत् भी क्यों न माना जाय । वास्तवमें, असत् शब्दसे हमारा यही अभिप्राय होता है कि यह कोई वह चीज है जो, वास्तविक सत्ताके विषयमें इस जगत्‌में रहते हुए जो कुछ हम जानते या धारणा करते हैं, तदनुसार हमारी विशुद्धतम धारणा द्वारा तथा हमारे अत्यंत सार और सूक्ष्म अनुभव द्वारा स्थिर किया हुआ उसका जो अंतिम पद होता है, उससे वह परे है । अस्तु, असत् कोई ऐसी चीज मात्र हैं जो भावात्मक धारणाके परे है । नास्तित्वकी कल्पनाको हम इसलिये गढ लेते हैं कि जो कुछ हम जान सकते हैं और जो कुछ हम सचेतन रूपसे हैं, उन सबका हम नेति नेतिकी भावनाके द्वारा अतिक्रम कर जाय । वास्तवमें, कतिपय दर्शन शास्त्रोंमें प्रतिपादित शून्यकी जब हम बारीकीके साथ जांच करते हैं तब हमें यह अनुभव होने लगता है कि यह एक ऐसा बिंदु है जो सर्व है, अखिल है अथवा यह कोई अवर्णनीय अनंत है जो मनको, चूंकि वह केवल शांत रचनाओंको ही ग्रहण कर सकता है, एक शून्यसा प्रतीत होता है, पर यथार्थमें जो है एकमात्र सत् । [1]

और, जब हम कहते हैं कि असत्‌से सत्‌का उद्भव हुआ तब हम देखते हैं कि कालकी परिभाषामें हम उसके विषयमें बोल रहे हैं जो कालातीत है । क्योंकि शाश्वत शून्यके इतिहासमें वह कौनसा अशुभ दिवस था जब उसमेंसे सत्‌का जन्म हुआ और कब वह दूसरा, उतना ही दारुण, दिवस आवेगा जिस दिन यह मिथ्या सृष्टि उस नित्य शून्यमें फिरसे समा जायेगी ? सत् और असत् दोनोंको स्वीकार करना ही यदि आवश्यक है, तो यह मान लेना होगा कि ये दोनों ही युगपत् रूपमें वर्तमान हैं । इनकी पारस्परिक स्थिति निर्विरोध है, यद्यपि ये घुल-मिलकर एक नहीं हो जाते । चूंकि हमें कालकी परिभाषामें ही बोलना है, इसलिये यह कहना ही पडेगा कि ये दोनों ही शाश्वत हैं । और, शाश्वत सत्ताको कौन विश्वास दिलावेगा कि वास्तवमें उसका कोई अस्तित्व नहीं, केवल शाश्वत् असत् ही है ? समस्त अनुभवोंके प्रति ऐसे नकारमें हमें वह समाधान कैसे मिलेगा जो समस्त अनुभवोंकी व्याख्या करता है ?

अज्ञेय समस्त विश्व-जीवनके आधारस्वरूप जो विशुद्ध सत्ता है उसके रूपमें अपने-आपको जाहिर करता है और समस्त विश्व-जीवनसे स्वतन्त्र उसकी जो स्थिति है उसीको हम असत् कहते हैं— स्वतंत्र, अर्थात् वास्तविक जीवनकी समस्त भावात्मक उपाधियोंसे जिनके बारेमें विश्वके अंदर रहनेवाली चेतना कल्पना कर सकती है, उनसे स्वतंत्र, अत्यंत सूक्ष्म अवस्थासे भी, यहांतक कि अत्यंत परात्पर अवस्थासे भी स्वतंत्र शब्दका यह अर्थ नहीं कि यह सृष्टि उस अज्ञेयकी यथार्थ अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि यह कि वह समस्त या किसी भी अभिव्यक्तिसे बद्ध नहीं है । असत्

[1] एक दूसरा उपनिषद् असत्‌से सत्‌के जन्मकी भावनाको असंभव कहकर, उसका खंडन करता है; उसका कहना है कि सत् सत्‌से ही जन्म ले सकता है, किंतु यदि हम असत्‌को अस्तित्वविहीन शून्य नहीं बल्कि वह वस्तु मानें जो सृष्टि संबंधी हमारी भावना या अनुभवके परे है—अद्वैत शास्त्रके केवल ब्रह्म और बौद्ध संप्रदायके शून्य या बिंदुका यह अर्थ लगाया जा सकता है—तो यह असंभवता दूर हो जाती है, क्योंकि बहुत संभव है कि तत् ही सत्‌का मूल हो, फिर चाहे वह धारणात्मक या रचनात्मक मायाके द्वारा हो या अपने-आपमेंसे ही प्रकटीकरण या सृजनके द्वारा ।

❀

सत्को वैसे ही स्वीकार करता है जैसे नीरव शांति कर्मण्यताको स्वीकार करती है। असत् और सत्की अर्थात् नकार और स्वीकारकी— जो परस्पर-विनाशक नहीं पर और सभी विरोधोंकी तरह परस्पर-पूरक है— एक साथ धारणा करनेसे प्रबुद्ध मानव-आत्माके लिये सद्वस्तु रूपसे चिन्मय आत्म-सत्ताका और उसी सद्वस्तु रूपसे सर्वातीत अज्ञेयका युगपत् ज्ञान प्राप्त करना संभव हो जाता है। ऐसा करनेसे ही बुद्धके लिये निर्वाणकी अवस्थाको प्राप्त करना और फिर भी संसारमें शक्तिशालिताके साथ कर्म करना संभव हुआ था— वे अपनी आंतरिक चेतनामें तो नैर्व्यक्तिक थे और अपने कर्ममें इतिहास प्रसिद्ध सभी व्यक्तियोंमें, जो इस पृथिवीपर रहे और कुछ कर गये, सबसे तेजस्वी व्यक्ति थे।

जब हम इन बातोंपर विचार करते है तब हमें यह दीखने लगता है कि जिन शब्दोंका हम उपयोग करते हैं वे बाह्यतः प्रचण्ड दिखायी देनेपर भी कितने कमजोर हैं और अपनी भ्रामक स्पष्टताके द्वारा हमारी बुद्धिको कितना चक्करमें डाल देते हैं। तब हम यह भी देखने लगते हैं कि जिन सीमाओंको हम ब्रह्मपर लगा देते हैं वे व्यष्टिगत मनके अनुभवोंकी संकीर्णताके कारण पैदा होती हैं, क्योंकि मन अज्ञेयके एक पार्श्वपर ही केंद्रित हो जाता है और उसके अन्य सभी पार्श्वोंको झटसे इनकार करने या उन्हें आकिंचन समझने लगता है। परब्रह्मके बारेमें जो कुछ हम जान या धारणा कर सकते हैं उसका अर्थ हम सदा अपनी विशिष्ट सापेक्षिक भाषामें कठोरतापूर्वक करने लगते हैं। दूसरोंकी सम्मतियों और आंशिक अनुभूतियोंके विरुद्ध हमारी अपनी सम्मतियों और आंशिक अनुभूतियोंकी अहंकारिताको प्रबलताके साथ घोषित कर, तदनुसार ही हम अद्वितीय और अनन्य परब्रह्मकी स्थापना करना चाहते हैं। बुद्धिमानी तो इसमें है कि हम जल्दबाजी न करें, ठहरें, सीखें और ज्ञानमें पनपें और मानव वाणी जिन चीजोंको व्यक्त नहीं कर सकती उनके बारेमें जब हमें अपनी आत्म-परिपूर्णताके लिये बोलना पडता है तो किसी अत्यंत विशाल, अत्यंत लचकीली, अत्यंत उदार, संभाव्य स्वीकृतिकी खोज करें और उसीपर विशालतम, व्यापकतम सामंजस्यकी स्थापना करें।

तब हम यह मान लेते हैं कि व्यष्टि-चेतनाके लिये यह संभव है कि वह एक ऐसी अवस्थामें प्रवेश करे जहां आपेक्षिक जीवनका लय हो गयासा दिखायी दे और यह मालूम हो कि आत्माके नामसे जो कुछ हम समझते हैं वह भी एक अपर्याप्त धारणा है। नीरव शांतिके परे किसी दूसरी नीरव शांतिमें चले जाना हमारे लिये संभव है। परंतु यह हमारे अंतिम अनुभवका सब कुछ नहीं है, न यह एकमात्र और अनन्य सत्य ही है। क्योंकि, हम देखते हैं कि यह निर्वाण यह आत्म-निर्वापन आत्माको आंतरिक परम शांति और स्वातंत्र्य देता हुआ भी उसके निष्काम पर अमोघ बाह्य कर्मके साथ व्यवहारतः संगत है। इस प्रकार आंतरिक पूर्ण अचल नैर्व्यक्तित्व और शून्य स्थिरताका बाहरमें शाश्वत सत्योंके—प्रेम, सत्य, धर्म —कर्मोंको करते रहनेकी संभावना ही संभवतः बुद्धकी शिक्षाका सारतत्व था—अर्थात् अहंकार और व्यष्टिगत कर्मबंधनसे तथा क्षर रूप और क्षर भावनाके साथ तादात्म्य होनेसे मुक्ति, न कि भौतिक जन्मके दुःख और कष्टसे छुटकारा पानेका क्षुद्र आदर्श। जो हो, जिस प्रकार सिद्ध मनुष्य अपने अंदर नीरव शांति और कर्मण्यता दोनोंको ही संश्लिष्ट करेगा उसी प्रकार पूर्ण रूपसे उद्बुद्ध आत्मा भी जीवन और जगत्के ऊपर अपनी पकडको छोडे बिना ही असत्के परम स्वातंत्र्यको पुन: प्राप्त होगा। इस प्रकार वह अपने अंदर उस परम सत्के शाश्वत चमत्कारको सनातन रूपसे करता रहेगा, जो सत् विश्वमें है फिर भी सदा उसके परे है, यहांतक कि जो अपने-आपके भी परे है। इसके विरुद्ध जो दूसरा अनुभव है वह व्यष्टिगत मनके असत्पर केंद्रित हो जानेके कारण ही होता है, जिसका परिणाम होता है विस्मृति और विश्व-कर्मण्यतासे व्यक्तिगत विमुखता, पर फिर भी यह कर्मण्यता सदा होती रहती है शाश्वत सत्की चेतनामें ही।

इस प्रकार विश्व चैतन्यमें आत्मा और जडतत्त्वका मेल बैठा लेनेके बाद हमें विश्वातीत चैतन्यमें सब कुछकी अंतिम स्वीकृति और नकारका मेल दीखने लगता है। हमें इस बातका पता लगता है कि समस्त स्वीकृति, अज्ञेयके अव्यय पदकी या उसमें होनेवाली कर्मण्यताकी स्थापना है, समस्त नकार इस बातकी स्थापना है कि वह उस पद या कर्मण्यता, दोनोंसे मुक्त है, वह उनमें रहते हुए भी उनसे मुक्त है। अज्ञेय हमारे लिये कोई ऐसी वस्तु है जो सर्वोपरि है, अद्भुत और अकथनीय है, जो सदा हमारी चेतनाके आगे अपने-आपको रूपान्वित करता रहता है और सदा ही उस

रूपायनके पकड़के बाहर रहता है। ऐसा करनेमें उसका हेतु किसी दुष्टात्मा या लहरी ऐंद्रजालिककी भांति यह नहीं होता कि वह हमें एक मिथ्यात्वसे दूसरे और भी बृहत्तर मिथ्यात्वमें गिराकर अंतमें समस्त वस्तुओंके नकारकी ओर ले जाय, बल्कि यहां भी वह हमारे मानव-ज्ञानके परे रहनेवाले सर्वज्ञके रूपमें उस समयतक हमारा परिचालन करता रहता है जबतक कि हम निरंतर एक सद्वस्तुसे दूसरी गंभीरतर और विशालतर सद्वस्तुको प्राप्त होते हुए अंतमें उस गंभीरतम और विशालतम सद्वस्तुको न पा लें जिसके पानेकी क्षमता हममें है। ब्रह्म है सर्वगत सद्वस्तु न कि अनवच्छिन्न भ्रांतियोंका सर्वगत कारण।

इस प्रकार यदि हम अपने सामंजस्यके लिये एक भावात्मक आधारको स्वीकार करें—और क्या कोई दूसरा आधार है जिसपर सामंजस्यकी स्थापना की जा सके?—तो अज्ञेयके विभिन्न धारणात्मक रूपायनोंको, जिनमेंका प्रत्येक रूपायन हमारी धारणाके परेके एक सत्यको प्रतिभासित करता है, जहांतक संभव हो वहांतक, उनका एक दूसरेके साथ जो संबंध है और जीवनपर उनका जो प्रभाव पड़ता है, इन दो बातोंको ध्यानमें रखकर समझना होगा, न कि अलग-अलग, न कि अनन्यरूपसे, इस तरहसे स्वीकार करके नहीं जिसमें अन्य सब स्वीकृतियां नष्ट या अनुचित रूपसे न्यून हो जाय। सच्चा अद्वैतवाद वह है जो समस्त वस्तुओंको एक ब्रह्मके रूपमें स्वीकार करता है और उसकी स्थितिको दो बेमेल सत्ताओंमें बांट देनेकी चेष्टा नहीं करता जैसे कि शाश्वत सत्य और मिथ्या, ब्रह्म और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा, सदात्मा और झूठी पर सनातन माया। यदि यह सच है कि केवल आत्मा ही है तो अवश्य ही यह भी सच है कि सब कुछ आत्मा ही है। और यह आत्मा, ईश्वर या ब्रह्म यदि कोई असहाय पद नहीं, कोई सीमाबद्ध शक्ति नहीं, कोई परिच्छिन्न व्यक्तित्व नहीं, बल्कि स्वात्म-चेतन सर्वं खल्विदं है, तो इसकी अभिव्यक्तिका कोई शुभ और निगूढ़ कारण होना चाहिये, जिसे ढूंढ निकालनेके लिये हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि अभिव्यक्त वस्तुमात्रके अंदर किसी शक्तिका, किसी ज्ञानका, सत्ताके किसी सत्यका अस्तित्व है।

जगत्में जो विसंगति है, उसमें जो अशुभ दिखायी देता है उनको हम उनकी जगहपर स्वीकार करेंगे, किंतु उनको अपना विजेता नहीं मानेंगे। मानव-जातिकी गंभीरतम सहज-प्रेरणा जागतिक प्राकट्यके अंतिम तत्त्वके रूपमें सदा ज्ञानकी खोज रही है—और यह वह ठीक ही कर रही है— न कि किसी शाश्वत विडंबना और मिथ्या मायाको—किसी गुह्य और अंतमें विजयी होनेवाले शुभकी खोज रही है न कि सर्वसृजनकारक और अजेय अशुभकी किसी चरम विजय और पूर्णताकी खोज रही है न कि इस बातकी कि आत्मा निरुत्साहित होकर अपने महान् प्रयाससे विमुख हो जाय।

क्योंकि हम ऐसा अनुमान नहीं कर सकते कि कोई बाह्य या इतर वस्तु उस एकमात्र परम सत्ताको किसी बातके लिये मजबूर कर सकती है, कारण ऐसी किसी वस्तुका अस्तित्व है ही नहीं। न हम कोई ऐसा अनुमान ही कर सकते हैं कि वह सत्ता अपने ही अंदर रहनेवाली किसी ऐसी आंशिक वस्तुके आगे अनिच्छापूर्वक नत हो जाती है जो उसकी समग्र सत्ताका विरोध करती है, जिसके अस्तित्वका उसके द्वारा इनकार किये जानेपर भी जो उसका मुकाबला करनेके लिये अतिशय बलवान् है; क्योंकि ऐसा अनुमान करना तो, दूसरे शब्दोंमें, उस सर्वं खल्विदं ब्रह्म और उसके अतिरिक्त किसी इतर वस्तुके बीच उसी विरोधको फिरसे गढ़कर खड़ा कर देना होगा। यदि हम यह कहें कि ब्रह्मांडका अस्तित्व इसलिये है कि ब्रह्म अपनी निरपेक्ष निष्पक्षतामें सब वस्तुओंको समानभावसे होने देता है, सभी वास्तविकताओं और संभावनाओंको उदासीन भावसे साक्षीकी भांति देखता रहता है, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आखिर कोई वस्तु है जो इस ब्रह्मांडके प्राकट्यके लिये इच्छा करती और उसका पोषण करती है, और वह वस्तु उस सर्वं खल्विदं ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं हो सकती। ब्रह्म समस्त वस्तुओंमें अविभाज्य रूपसे है और जगत्में जो कोई संकल्प होता है वह मूलतः ब्रह्मकी ही इच्छा है। परंतु विश्वके अशुभ, अज्ञान और पीड़ाके दृश्यसे डरी या घबरायी हुई हमारी आपेक्षिक चेतना किसी माया या मारको, किसी सचेतन दैत्य या स्वतःस्थित अशुभके किसी विपरीत तत्त्वको गढ़कर ब्रह्मको उसके अपने-आपके उत्तरदायित्वसे तथा उसकी अपनी क्रियाओंके उत्तर-दायित्वसे मुक्त कर देनेकी चेष्टा करती है। है केवल एक परमेश्वर, एक परमात्मा और बहुतो उसके प्रतिरूपमात्र उसकी संभूतियां मात्र हैं।

तब फिर, यदि यह जगत् एक स्वप्न, एक माया या एक भ्रम है तो यह वह स्वप्न है जिसकी उत्पत्ति और इच्छा परमात्माने अपनी अखंड सत्तामें की है; केवल उत्पत्ति और इच्छा ही नहीं बल्कि इसका पालन और अनवरत पोषण भी परमात्मा ही करता रहता है। इसके अतिरिक्त यह वह स्वप्न है जिसकी स्थिति किसी सद्वस्तुमें है तथा जिस सत्वसे यह बना है वह सत्व भी वह सद्वस्तु ही है, क्योंकि जगत्‌का उपादान ब्रह्म ही है, साथ ही उसकी प्रतिष्ठा और आधार भी। जिस सुवर्णसे पात्र बना वह सुवर्ण यदि सत्य है तो फिर हम कैसे मानें कि उससे बना हुआ पात्र एक मरीचिका है ? हम देखते हैं कि ये शब्द, स्वप्न, माया आदि भाषाकी चतुराईमात्र हैं, हमारी आपेक्षिक चेतनाकी देवमात्र हैं; अवश्य ही ये किसी विशिष्ट सत्यको, यहांतक कि किसी महत् सत्यको भी व्यक्त करते हैं, पर ये उसे गलत तरीकेसे भी व्यक्त करते हैं। जिस प्रकार असत् शून्य नहीं बल्कि कोई और ही चीज साबित होता है, ठीक उसी प्रकार विश्व-स्वप्न भी यह दिखायी देता है कि वह कोई मनकी माया या भ्रम नहीं बल्कि कोई और ही चीज है। जगत्-प्रपंच कोई छायारूप नहीं, बल्कि यह है एक सत्यका सत्य आकार।

तब हम उस सर्वगत सद्वस्तुको मानकर आगे बढते हैं, जिसके एक छोरका असत् और दूसरे छोरका विश्व एक दूसरेको मेटनेवाले नकार नहीं बल्कि उसी एक सद्वस्तुके विभिन्न पद हैं, उसी सद्वस्तुके अग्र और पृष्ठभागकी प्रतिष्ठात्मक स्वीकृतियां हैं। इस विश्वगत सद्वस्तुका उच्चतम अनुभव यह दिखा देता है कि वह केवल चिन्मय सत्ता ही नहीं बल्कि परम ज्ञान, शक्ति और स्वयंभू आनंद है, और फिर भी विश्वके परे वह कोई दूसरी अज्ञेय सत्ता, निरातिशय और अकथनीय आनंद है। इसलिये हमारा यह मान लेना उचित होगा कि जगत्‌के द्वंद्वोंकी व्याख्या यदि हम अपनी संवेदनात्मक और आंशिक धारणाके आधारपर न करें—जैसा कि अभी हम करते हैं—अपनी मुक्त बुद्धि और अनुभवके आधारपर करें, तो ये द्वंद्व भी उन उच्चतम तत्त्वोंमें समा जायंगे। अवश्य ही अभी, जबतक कि हम द्वंद्वोंके प्रभावसे निकल नहीं पाये हैं तबतक, इस अनुभवको सदा एक श्रद्धाके सहारेकी आवश्यकता होगी, किंतु यह वह श्रद्धा है जिसका उच्चतम विचार-बुद्धि और विशालतम तथा अतिधीर चिंतन इनकार नहीं करते, बल्कि ये उसकी पुष्टि ही करते हैं। यह श्रद्धारूपी धर्म मानव-जातिको उसकी यात्रामें सहायता करनेके लिये दिया गया है और यह तबतक उसके साथ रहेगा जबतक वह अपने विकासको उस अवस्थाको प्राप्त न हो जाय जहां श्रद्धा ज्ञान और पूर्ण अनुभवमें परिणत हो जाती है तथा ज्ञानका औचित्य उसके कर्मोंसे सिद्ध होता रहता है।

(अध्याय ५)

व्यक्तिकी नियति

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। ईशोपनिषद् ११

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते। ईशोपनिषद् १४

अविद्याके द्वारा वे मृत्युसे तर जाते हैं और विद्याके द्वारा अमृतत्वका उपभोग करते हैं।

असंभूतिके द्वारा वे मृत्युसे तर जाते हैं और संभूतिके (जन्म) के द्वारा अमृततत्वका उपयोग करते हैं।

समस्त जीवन और अस्तित्वका सत्य है एक सर्वगत सद्वस्तु, चाहे वह निरपेक्ष हो या सापेक्ष, शरीरी हो या अशरीरी, सजीव हो या निर्जीव, सज्ञान हो या अज्ञान; और अपनी समस्त अनंत वैचित्र्यमय, यहांतक कि अपनी निरंतर विरोधी आत्म-अभिव्यक्तियोंमें भी, हमारे सामान्य अनुभवोंके अतिसमीपी विरोधोंसे लेकर उन दूरस्थ विरोधी तकमें जो अवर्णनीय अज्ञेयके समीप अपने आप विलीन हो जाते हैं, सद्वस्तु एकमेव अद्वितीय है, न कि कोई समूह या समवाय। उसीसे समस्त वैचित्र्यका उपक्रम होता है, उसीमें समस्त वैचित्र्यकी स्थिति है और उसीकी ओर समस्त वैचित्र्य लौटता है। समस्त स्वीकृतियोंका इनकार केवल इसीलिये किया जाता है कि इस इनकार द्वारा उसी

एक सद्वस्तुके विषयमें किसी विशालतर स्वीकृतिकी ओर अग्रसर हों। समस्त विरोध एक दूसरेसे इसीलिये टकराते हैं कि वे अपनी विरोधी अवस्थाओंमें उस एक सत्यको पहचान लें और संघर्षके द्वारा अपने पारस्परिक एकत्वका आलिंगन करे। ब्रह्म ही आदि है और ब्रह्म ही अंत। ब्रह्म ही एक है जो है और उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुकी स्थिति नहीं है।

परन्तु यह एकत्व अपने स्वभावमें अवर्णनीय है। जब हम इसे मनके द्वारा समझना चाहते हैं तो हमें धारणाओं और अनुभवोंकी अनंत श्रेणियोंमेंसे होकर ही अग्रसर होना पड़ता है। और फिर भी अंतमें हमें अपनी विशालतम धारणाओं, अपने व्यापकतम अनुभवोंतकको इसलिये अस्वीकार करना पड़ता है कि हम यह स्वीकार करें कि सद्वस्तु समस्त वर्णनोंके परे है। हम भारतीय ऋषियोंके "नेति नेति" (वह यह नहीं है, वह वह नहीं है) सूत्रको प्राप्त होते हैं। ऐसा कोई अनुभव नहीं है जिसके अंदर उसको सीमित किया जा सके, ऐसी कोई धारणा नहीं है जिसके द्वारा उसका वर्णन किया जा सके।

एक अज्ञेय है जो कि सत्ताके अनेक पदों और गुणोंमें, चेतनाके अनेक रूपोंमें, शक्तिकी अनेक कर्मण्यताओंमें हमारे सामने प्रतिभात होता है— इसी बातको मन अंतमें उस सत्के बारेमें कह सकता है, जो कि हमलोग हैं और जिसे हम देखते हैं उन सब वस्तुओंमें जो हमारी बुद्धि और इंद्रियोंके स्पर्शमें आती है और, इन्हीं पदों, इन्हीं रूपों, इन्हीं कर्मण्यताओंमें तथा इन्हींके द्वारा हमें उस अज्ञेयके पास पहुंचना है, उसको जानना है। परंतु हमारा मन जिस एकत्वको ग्रहण और धारण कर सकता है उस एकत्वको प्राप्त होनेकी जल्दबाजीमें, अनंतको अपने समालिंगनमें बांध रखनेके आग्रहमें, यदि कहीं हम उस सद्वस्तुको सत्ताकी किसी एक ही वर्णनीय अवस्थाके साथ एक समझ लें चाहे वह अवस्था कितनी ही विशुद्ध और सनातन क्यों न हो, किसी विशिष्ट गुणके साथ ही एक समझ लें चाहे वह गुण कितना ही सार्वजनिक और व्यापक क्यों न हो, चेतनाके किसी एक ही निर्दिष्ट रूपायनके साथ एक समझ लें चाहे उस रूपायनका क्षेत्र कितना ही विशाल क्यों न हो, किसी एक शक्ति या कर्मण्यताके साथ एक समझ लें चाहे उस शक्ति या कर्मण्यताकी प्रयोगिता कितनी ही असीम क्यों न हो, और यदि हम बाकी सब कुछका बहिष्कार करें, तो हमारे विचार उसकी अज्ञेयताके विरुद्ध जानेकी गलती करते हैं और किसी सच्चे एकत्वको नहीं बल्कि उस अविभाज्यके किसी विभाजन मात्रको ही प्राप्त होते हैं।

प्राचीन कालमें इस सत्यका इतना जोरदार अनुभव हुआ कि वेदांतके द्रष्टा ऋषि-मुनियोंने, इस चरम भावनाको, इस परम प्रतीतिकर अनुभवको प्राप्त होनेके बाद भी सच्चिदानंद ही हमारी चेतनाके लिये सद्वस्तुकी उच्चतम भावात्मक व्यंजना है, अपने आध्यात्मिक चिंतनके फलस्वरूप असत्को गढ डाला, या यों कहें कि अपने अनुभवको और आगे बढाकर असत्में पहुंचे—वह असत् जो सबके परे है, जो वह परम सत्, विशुद्ध चित् और अनंत आनंद नहीं है, जिसकी व्यंजना या विकृति ही हमारे सारे अनुभव हैं। यदि यह असत् कोई सत्, कोई चित्, कोई आनंद है तो वह इन सत्, चित् आनंदके उस उच्चतम और विशुद्धतम भावात्मक रूपके भी परे है जिसे हम यहां प्राप्त कर सकते हैं और इसलिये इन नामोंसे जो कुछ हम यहां समझते हैं उनसे वह भिन्न है। शास्त्रोंकी प्रामाण्यताको स्वीकार नहीं करनेके कारण जिस बौद्ध धर्मको दार्शनिकोंने अन्याय रूपसे अवैदिक कह डाला वह भी इसी धारणाको जो कि मूलतः वेदांतिक है, अपनाता है। केवल उपनिषदोंकी भावात्मक और समन्वयात्मक शिक्षाने ही यह माना है कि सत् और असत् परस्पर-विनाशक कोई विरोधी तत्त्व नहीं हैं बल्कि ये अंतिम विपरीत-तत्त्वमात्र हैं जिनके अंदरसे ही हम अज्ञेयकी ओर नजर उठा सकते हैं। और हमारी भावात्मक चेतनाके व्यापारोंमें एकत्वको भी बहुत्वके साथ अपनी विद्या बैठा लेनी होती है, क्योंकि वह भी ब्रह्म ही है। विद्याके द्वारा अर्थात् एकत्वके ज्ञानके द्वारा हम ईश्वरको जानते हैं; विद्याके बिना अविद्या, अर्थात् आपेक्षिक और बहुमुखी चेतना अंधकारभरी रात्रि और अज्ञान जनित विशृंखला मात्र है। फिर भी यदि हम इस अज्ञानके क्षेत्रका बहिष्कार करें, अविद्यासे यह कहकर पिंड छुड़ावें कि इसका कोई अस्तित्व नहीं, वह तो अवास्तव है, तो स्वयं ज्ञान भी एक प्रकारका तिमिर, अपूर्णताका एक मूल बन जाता है। हमारी दशा रोशनीसे चौंधियाये हुए मनुष्योंकी सी हो

जाती है और तब हम उस क्षेत्रको ही नहीं देख पाते जिसे वह रोशनी प्रकाशित करती है।

सो ऐसी है हमारे अतिप्राचीन ऋषियोंकी शिक्षा— धीर-स्थिर, ज्ञान गर्भीली और स्पष्ट। ज्ञानको प्राप्त करने और जाननेके लिये उनमें धैर्य था, बल था, मानव ज्ञानकी सीमाको स्वीकार करनेकी उनमें प्राजल दृष्टि और नम्रता भी थी। उन्होंने उन सरहदोंको देखा था जहां पहुंचनेके बाद मानव ज्ञानको अपनेसे परेकी किसी चीजमें चला जाना पडता है। बादमें हृदय और मनकी अधीरताने, चरम आनंदके अथवा विशुद्ध अनुभवके गौरवमय प्रभुत्वके प्रचंड आकर्षणने और तीक्ष्ण बुद्धिने एकको खोजा और बहुतको अस्वीकार किया, और चूंकि मानव-मनने उस उत्तुंग प्रदेशकी वायुका सेवनकर लिया था इसलिये वह नीचेकी गहराइयोंके रहस्यसे घृणा करने लगा, उससे मुह मोडने लगा। परंतु प्राचीन ज्ञानकी धीर-स्थिर दृष्टिने यह देखा था कि ईश्वरको यथार्थतः जाननेके लिये यह जानना होगा कि ईश्वर समान भावसे और अभिन्न रूपसे सर्वत्र है और जिन विरोधोंके अदरसे ईश्वर अपनी महिमाको प्रकाशित करता है उनको वह देखेगी समझेगी, उनका मूल्य आंकेगी, पर उनसे अभिभूत नहीं हो जायगी।

तब हम आशिक तर्कके उन पैने भेदोंको अपनेसे दूरही रखेंगे जो यह घोषित करते हैं कि चूंकि एक ही सद्वस्तु है, इसलिये बहु केवल माया है, जो यह कहते हैं कि चूंकि निरपेक्ष ही सत् है, एकमात्र अस्तित्व है, इसलिये सापेक्ष असत् और अस्तित्व विहित है। यदि हम अनवच्छिन्नरूपसे बहुतमें एकको खोजते हुए आगे बढते हैं तो वह इसलिये कि हम बहुतके अदर अपनी स्थितिको पुख्ता तौरपर स्वीकार करनेवाले एकमेवाद्वितीयके आशीर्वाद और प्रकाशके साथ वापस लौट आवें।

मन अपने अधिक शक्तिशाली विस्तार और अवस्थांतरमें जिन विशिष्ट दृष्टिबिंदुओंको प्राप्त होता है उन्हें वह अतिशय महत्व देने लगता है, और इससे भी हम अपनेको बचाकर रखेंगे। ईश्वर और परा सत्ता भ्रामक भावनाएं हैं, ऐसी जो जड प्राकृतिक मनकी दृष्टि है, जैसे उसे हम कोई चरम मूल्य नहीं देते, वैसे ही आध्यात्मिक मनके उस अनुभवको भी जो यह कहता है कि यह विश्व ब्रह्मांड एक मिथ्या स्वप्न है, हम कोई चरम मूल्य नहीं देते। पहली अवस्थामें तो यह होता है कि चूंकि मनको केवल मात्रा स्पर्शोंकी आदत पडी होती है और चूंकि वह केवल शरीरी तथ्यको ही सद्वस्तु रूपसे जानता है इसलिये या तो उसे यह अभ्यास नहीं होता कि वह ज्ञानके दूसरे-दूसरे साधनोंका प्रयोग करे या उसमें यह क्षमता ही नहीं होती कि वह सद्वस्तुके बोधको अतिभौतिक अनुभवके क्षेत्रोंमें आगे बढा ले जाय। दूसरी अवस्थामें वही मन शरीरी तथ्यके परे जो अशरीरी सद्वस्तु है उसके अभिभूतिकर अनुभवमें पहुंचकर केवल इतना ही करता है कि अपनी उसी प्रकारकी अक्षमता और फलतः स्वप्न या मतिभ्रम रूपी अपने उसी प्रकारके मानको धीरेसे इन्द्रियानुभवोंके माथे मढ देता है। परंतु ये दो धारणाएं जिस सत्यको विकृत करती हैं उस सत्यका अनुभव भी हमें होता है। यह सच है कि इस नामरूपकात्मक जगत्में, जहां कि हम अपनी आत्मानुभूतिके लिये उतरे हैं, कोई भी चीज तबतक नितांत प्रामाणिक नहीं होती जबतक कि वह हमारी भौतिक चेतनाको प्राप्त न हो जाय और जबतक कि उच्चतम स्तरोंपर उसकी जो अभिव्यक्ति है उसके साथ सामंजस्य रखकर वह यहाके निम्नतम स्तरोंमें आविर्भूत न हो जाय। यह भी उतना ही सच है कि अपने-आपको स्वतःस्थित सद्वस्तुके नामसे घोषित करनेवाले रूप और स्थूलभूत अज्ञानकी माया है। रूप और स्थूलभूत तो अशरीरी और अमूर्तकी अभिव्यक्तिके केवल आकार स्वरूप और द्रव्यस्वरूप ही प्रामाणिक माने जा सकते है। ये अपने स्वभावमें तो हैं दिव्य चेतनाकी एक क्रिया और अपने लक्ष्यमें हैं आत्माकी एक अवस्थाके प्रतिरूप।

दूसरे शब्दोंमें यों कहें कि यदि ब्रह्मने रूपमें प्रवेश किया और स्थूल द्रव्यके अंदर अपनेको प्रतिभात किया तो उसके ऐसा करनेका कारण तो केवल यही हो सकता है कि वह अपने आत्म-प्राकट्यका आनंद ले, आपेक्षिक और प्राकृत चेतनाके आकारोंमें। ब्रह्म इस जगत्में है जीवनके तत्त्वोंमें अपने-आपको प्रतिभात करनेके लिये। ब्रह्ममें जीवनकी स्थिति है इसलिये कि जीवन ब्रह्मको अपने अंदर खोज निकाले। अतएव मनुष्यका संसारमें महत्व है इसलिये कि वह जीवनमें चेतनाके उस विकासको ला देता है जिसे प्राप्त होनेपर पूर्ण आत्म-साक्षात्कारके द्वारा उसका रूपांतर संभव

हो जाय। जीवनमें ईश्वरको चरितार्थ करना ही है मनुष्यका मनुष्यत्व। उसकी यात्राका आरंभ होता है पशु-प्राण शक्ति और उसकी कर्मण्यताओंसे, पर उसका लक्ष्य है, दिव्य जीवन।

परंतु जैसा ही मन-बुद्धिमें वैसा ही समस्त जीवनमें, आत्म साक्षात्कारका सच्चा विधान है प्रगतिशील व्यापकता। ब्रह्म चेतनाके अनेक क्रमागत रूपोंमें अपने-आपको प्रकट करता है— ये रूप यद्यपि अपनी सत्तामें सहवर्ती और कालके हिसाबसे समकालीन हैं, फिर भी अपने पारस्परिक संबंधमें क्रमिक ही हैं— और जीवन जैसे अपने परदोंको खोलता जायगा वैसे उसे भी अपनी सत्ताके नव-नव क्षेत्रोंमें सदा ऊपर उठते जाना होगा। परंतु एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जाते हुए, नयी नयी प्राप्तियोंको हथियानेकी व्यग्रतामें यदि हम अभीतककी अपनी प्राप्तियोंका त्याग करें, यदि मानव-जीवनको प्राप्त होकर हम भौतिक जीवनका, जो कि हमारा आधार है, वर्जन करें या उसे तुच्छ गिनें अथवा यदि आध्यात्मिक जीवनके आकर्षणके कारण हम मनोमय और भौतिक जीवनका प्रत्याख्यान करें, तो हम ईश्वरको पूर्णतया चरितार्थ नहीं करते, न उसकी आत्म-अभिव्यक्तिकी शर्तोंको ही पूरा करते हैं। हम पूर्णताको प्राप्त नहीं होते, बल्कि अपनी अपूर्णताके क्षेत्रको मात्र बदल देते हैं, अथवा अधिक से-अधिक हम एक परिसीमित ऊंचाईको ही प्राप्त करते हैं। हम चाहे जितनी ऊंचाईपर क्यों न चढ जांय, यहांतक कि स्वयं असत्‌तक ही क्यों न पहुंच जायं, पर यदि हम अपने नीचेके आधारको भूल गये तो हमारा यह आरोहण सदोष ही होगा। नीचेके जीवनको उसीके भरोसे छोड न देकर उसे उस उच्च जीवनके भावमें रूपांतरित कर देना, जिसे हम प्राप्त हो चुके हों— यही है स्वभावकी सच्ची दिव्यता। ब्रह्म है अखंड और पूर्ण और एक ही कालमें चेतनाकी अनेक अवस्थाएं उसके अंदर एक सूत्रमें ग्रथित रहती हैं, हमें भी, ब्रह्मके स्वभावकी अभिव्यक्ति करनेवालोंको भी, अखंड, पूर्ण और सर्व समालिंगनकारी बनना चाहिये।

भौतिक जीवनसे भागनेकी प्रवृत्तिके अतिरिक्त संन्यासीके आवेगकी और एक अतिशयता होती है, जिसे जीवनमें भगवान्‌के पूर्ण प्राकट्यका यह आदर्श संशोधित करता है। चेतनाकी तीन साधारण अवस्थाओंमें, अर्थात् व्यष्टिसत्ता, विश्वसत्ता परा या विश्वातीतसत्तामें जो परस्पर-संबंध है-यही है जीवनकी जटिल ग्रंथि। जीवनकी क्रियाओंका जो सामान्य विभाजन है उसमें व्यक्ति यह समझता है कि वह कोई पृथक् सत्ता है जो विश्वमें समाविष्ट है और यह कि वह और विश्व, दोनों ही उस परासत्तापर निर्भर करते हैं जो जैसे उससे परे है वैसे ही विश्वसे परे है। इसी परासत्ताको ही हम प्रचलित अर्थमें ईश्वर कहते हैं, जो इस प्रकार हमारी धारणाके अंदर जितना विश्वातीत नहीं उतना विश्वातिरिक्त बन जाता है। इस भेदका स्वाभाविक परिणाम होता है व्यक्ति और विश्व दोनोंको ही क्षुद्र और हीन मानना। तब, न्यायतः, इस भेदकी परिसमाप्ति होगी परासत्ताकी प्राप्तिके द्वारा व्यक्ति और विश्व दोनोंका अंत हो जाना।

ब्रह्मके एकत्वको अखंड देखनेवाली दृष्टि हमें उपर्युक्त परिणामोंसे बचाती है। जैसे यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि मनोमय और आध्यात्मिक जीवनको प्राप्त करनेके लिये भौतिक जीवनका त्याग किया जाय, ठीक वैसे ही हम एक ऐसे दृष्टिबिंदुको प्राप्त हो सकते हैं जहां व्यष्टि-कर्मण्यताओंको जारी रखना विश्व-चैतन्यके समालिंगनसे या पर चैतन्य और विश्वातीत चैतन्यकी प्राप्तिसे, विसंगत नहीं रहता। क्योंकि विश्वातीत सत्ता उसी तरह विश्वका समालिंगन करती, उसके साथ एक है और उसका बहिष्कार नहीं करती जिस तरह कि विश्व व्यष्टिका समालिंगन करता, उसके साथ एक है और उसका बहिष्कार नहीं करता। व्यष्टि है समग्र विश्व-चैतन्यका एक केंद्र; विश्व है एक आकार और निर्वचन, जो निराकार और अनिर्वचनीय ब्रह्मकी अंतर्व्याप्तिसे परिपूर्ण है।

यही सदा सत्य संबंध है, जो हमारे अज्ञानके कारण तथा वस्तुओंके संबंधमें हमारी भ्रांत चेतनाके कारण हमारी दृष्टिकी ओर रहता है और हम उसे देख नहीं पाते। जब हम ज्ञान अथवा सत्य चैतन्यको प्राप्त होते हैं तब इस सनातन संबंधमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो जाता, बल्कि केवल व्यष्टिकेन्द्रसे देखनेवाली हमारी आंतर और बाह्य दृष्टिमें और फलतः उसकी कर्मण्यताके भाव और परिणाममें एक गहरा हेर-फेर हो जाता है। विश्वमें परासत्ताके कार्यके लिये व्यक्तिकी आवश्यकता फिर भी रहती ही है और उसके ज्ञानचक्षुके उन्मीलनका यह अर्थ नहीं कि उसमें जो परासत्ताकी क्रिया हो रही है, उसका अंत

हो जाय। बल्कि, जब कि व्यष्टिमें परासत्ताके सचेतन प्राकट्यके जरियेसे ही समष्टिको, विश्वको भी अपने-आपसे सचेतन होना है तब ज्ञानदीप्त व्यष्टिका जगत्के कर्ममें बने रहना विश्व-लीलाके लिये परमावश्यक है। ज्ञानालोककी क्रिया के द्वारा व्यष्टिको कठोरतापूर्वक यहांसे हटा ले जाना ही यदि नियम हो तब तो यह मान लेना होगा कि इस संसारपर एक अभिशाप है कि यह सदा एकसा अंधकार, मृत्यु और दुःखका रंगमंच बना रहे, और ऐसा संसार तो एक निर्दय अग्नि परीक्षा या एक यांत्रिक माया ही हो सकता है।

सन्यासपरक दर्शनशास्त्रका झुकाव जगत्को ऐसा ही माननेकी ओर है। परंतु विश्व-जीवन यदि एक माया ही हो तो फिर व्यक्तिकी मुक्तिका कोई प्रकृत अर्थ नहीं रह जाता। अद्वैतवादके मतानुसार व्यष्टिगत आत्मा परमात्माके साथ एक है, उसे जो पृथक्त्वका भान होता है वह अज्ञान है और पृथक्त्वके भानसे छुटकारा पाना तथा परमात्माके साथ उसका सायुज्य ही उसकी मुक्ति है। परंतु इस छुटकारेका लाभ तब किसको मिलता है? अवश्य ही परमात्माको नहीं, क्योंकि वह तो सदा स्वतंत्र, निश्चल, नीरव, और विशुद्ध है। जगत्को भी नहीं, क्योंकि वह तो सदा बंधनमें ही रहता है और इस विश्वव्यापी मायासे यदि कोई एक आत्मा छुटकारा पा जाय तो इससे उसकी बंधन मुक्ति नहीं होती। केवल व्यष्टिभूत आत्मा ही इस शोक और भेदसे भागकर शांति और आनंदमें चले जानेके द्वारा अपना परमकल्याण करता है। तब यह प्रतीत होगा कि व्यष्टिभूत आत्माकी कोई स्वतन्त्र हस्ती है जो उसकी मुक्तिके बाद भी, उसके ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जानेके बाद भी संसारसे और परमात्मासे अलग रहती है। परंतु मायावादियोंके मतसे व्यष्टिभूत आत्मा तो एक भ्रम है, उसका अस्तित्व तो मायाके अवर्णनीय रहस्यके सिवा और कहीं नहीं है। इसलिये, तब हम इस सिद्धांतपर जा पहुंचते हैं कि मायिक असत् आत्माका मायिक असत् जगत्के मायिक असत् बंधनसे भाग जाना ही उसका वह परम कल्याण है जिसे उस असत् आत्माको अपना लक्ष्य बनाना है। क्योंकि ज्ञानके अंतिम वचन ये ही तो हैं, "न कोई बद्ध है, न कोई मुक्त होता है, न कोई मुक्तिकी खोज करता है।" तब अविद्याकी तरह ही विद्या भी प्रापंचिक जगत्का एक अंग बन जाती है और अंतमें यह होता है कि जब हम यहांसे भागते होते हैं तब मायासे हमारी मुलाकात होती है और वह हमारे उस विजयात्मक न्यायकी हंसी उडाती है जिसके द्वारा हमने उसके रहस्यकी गुंथियोंको काट दिया मान लिया था।

ऐसा कहा जाता है कि इन चीजोंका विशदीकरण नहीं हो सकता, क्योंकि ये हैं आदिम और अभेद्य चमत्कार। ये हमारे लिये एक व्यावहारिक तथ्य हैं और हमें इनको स्वीकार करना ही पडेगा। हमें तो बस एक मतिभ्रमके द्वारा एक मतिभ्रमसे छुटकारा पाना है। व्यष्टिभूत आत्मा अहंकारकी ग्रंथिको व्यक्तिगत मुक्तिकी आसक्तिके द्वारा ही— जो कि अहंकारिताका चरम कार्य है काट सकता है, जिसका यह अर्थ होता है कि वह इस बातपर विशेष जोर देता है कि इस मायामें उसका एक पृथक् अस्तित्व है। हमको यह दीखने लगता है कि दूसरे-दूसरे आत्मा तो हमारे अपने मनकी अलीक रचना मात्र हैं और उनकी मुक्ति कोई आवश्यक बात नहीं, मात्र हमारा अपना आत्मा ही पूर्णतया सत्य है और हमारा सरोकार केवल उसीकी मुक्तिसे है। मैं यह मानने लगता हूं कि इस बंधनसे मेरी अपनी मुक्ति ही सत्य है, जब कि दूसरे-दूसरे आत्मा, जो मेरे अपने आत्मा ही हैं, बंधनमें पडे ही पडे रह जाते हैं।

आत्मा और जगत्के बीचके विसंगत विरोधको जब हम हटा देते हैं, केवल तभी हम न्यायकी उस दृष्टिसे देखने लगते हैं जहां विरोधाभास बहुत ही कम है, और तब चीजें अपनी-अपनी जगहपर दिखाई देने लगती हैं। जब हम व्यक्त आत्माके एकत्वका प्रतिपादन कर रहे हों तब भी हमें इस अभिव्यक्तिकी अनेक विधताको स्वीकार करना होगा। और हम जिधर भी दृष्टि क्यों न डालें अंतमें यही सत्य क्या हमारी आंखोंके सामने नहीं आता? हां तब यदि हम देखकर भी न देखना चाहें तो फिर दूसरी ही बात है। चिन्मय आत्माके विषयका आखिरकार क्या यही सर्वथा स्वाभाविक और सीधा-सादा रहस्य नहीं है कि यह न तो अपने एकत्वसे बद्ध है न अपने बहुत्वसे? वह 'निरपेक्ष' है इस अर्थमें कि वह अपनी आत्म अभि-

व्यक्तिके समस्त संभाव्य पदोंको अपनी ही रीतिसे समाविष्ट और व्यवस्थित करनेके लिये सर्वथा स्वतंत्र है। न कोई बद्ध है, न कोई मुक्त होता है, न कोई मुक्तिकी कामना करता है— क्योंकि वह तत् सदा ही पूर्ण स्वातंत्र्य है। वह इतना स्वतंत्र है कि वह अपनी स्वतंत्रतासे भी बद्ध नहीं है। वह बद्ध होनेका अभिनय कर सकता है किसी वास्तविक बंधनमें आये बिना ही। बंधनकी बेड़ियां उसकी अपने-आपपर डाली हुई प्रथामात्र है, अहंकारकी सीमाओं को अपने ऊपर ओढ लेना उसकी एक युक्ति है एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें आनेके लिये, जिसका प्रयोग वह इसलिये करता है कि व्यष्टिगत ब्रह्मकी योजनामें वह अपनी तुरीय और विराट् दोनों अवस्थाओंको दोहरा सके।

परासत्ता, विश्वातीत सत्ता देशकालके परे तथा सांत और अनंतरूपी हमारे मानसिक विरुद्ध भावोंके परे अपने-आपमें निर्विशेष और स्वतंत्र है। परन्तु विश्वमें वह अपने आत्म-रूपायनकी स्वतंत्रताका, अपनी मायाका, उपयोग करती है 'एकत्व और बहुत्वरूपी परस्पर-पूरक पदोंके अन्तर्गत अपनी एक योजनाकी रचनाके लिये, जिस बहुत्व-मय एकत्वकी स्थापना वह अपनी सत्ताकी तीन अवस्थाओंमें करती है— अवचेतन सत्ता, सचेतनसत्ता और अतिचेतन सत्ता क्योंकि वास्तवमें हम यह देखते हैं कि हमारे इस जडप्राकृतिक जगत्‌में रूपके अंदर विषयीभूत बहु अपना आरंभ किसी अवचेतन ऐक्यके द्वारा ही करते हैं, और यह ऐक्य यद्यपि विश्वकर्म और विश्वद्रव्यमें साफ-साफ दिखाई देता है फिर भी बहुको इसका बाह्य ज्ञान नहीं होता। सचेतन अवस्थामें अहंकार वह बाह्य बिंदु बनता है जिसमें एकत्वका बोध प्रकट तो हो सकता है, किंतु अपने इस एकत्वके अनुभवको यह केवल रूप और बाह्य कर्ममें ही कर पाता है और चूंकि वह उस सबका हिसाब नहीं लगा पाता जो इस बाह्य अभिव्यक्तिके पीछेसे कार्य करता है, इस-लिये उसे यह अनुभव भी नहीं हो पाता कि वह केवल अपने-आपमें ही एक नहीं है, बल्कि दूसरोंके साथ भी एक है। विश्वव्यापी 'मैं' का विभक्त अहंभावकी सीमामें इस प्रकार बंध जाना ही हमारा अपूर्ण व्यष्टिभूत व्यक्तित्व है। परन्तु अहंकार जब व्यष्टिगत चेतनाके ऊपर उठता है तब वह उसका अपने अन्दर करने और उसके द्वारा अभिभूत होने लगता है जो हमारे लिये अतिचेतन है; वह विश्व-जीवनके एकत्वको जानने लगता है और उस विश्वातीत आत्मामें प्रवेश करता है जिसको यह संसार यहां प्रकट करता है बहुत्वमय एकत्वके द्वारा।

अतएव व्यष्टिभूत आत्माकी मुक्ति विशिष्ट दिव्य कर्मकी मुख्य बात है, सबसे पहली भागवत आवश्यकता है, यह वह केंद्रिक कील है जिसपर यह संसारचक्र घूमता है। यह प्रकाशका वह बिंदु है जिसमेंसे बहुमें वांछित पूर्ण आत्म अभिव्यक्ति होने लगती है। परंतु मुक्त आत्मा एकत्वके अपने अनुभवको जैसे खड़ी रेखामें ऊपरकी ओर बढाता है वैसे ही वह आडी रेखामें चारों ओर फैलाता भी है। विश्वस्थित बहुके साथ एकत्वकी स्थापनाके बिना विश्वातीत एकके साथ उसका एकत्व अधूरा ही होता है। और यह आडी रेखाका पार्श्विक एकत्व अपने-आपको व्यक्त करता है बहुत्वके दूसरे दूसरे बिंदुओंमें स्वयं अपने जैसी मुक्त स्थितिकी वृद्धिके द्वारा उसके प्रसारके द्वारा। जिस प्रकार पशु अपने जैसे शरीरोंमें अपने-आपको बार बार उत्पन्न करता है वैसे ही दिव्य आत्मा अपने जैसे मुक्त आत्माओंमें अपने आपको बार बार व्यक्त करता है। इसलिये जब कभी एक भी आत्मा मुक्त होता है तब हमारी पार्थिव मानव जातिके व्यष्टिभूत अन्यान्य आत्माओंमें उसी दिव्य चेतनाके प्रसारकी ओर यहांतक कि उसके उच्छेदकी ओर एक झुकाव होता है और—कौन कह सकता है? — पार्थिव चेतनाके परे जो आत्माएं हैं शायद उनमें भी यह झुकाव होता हो। दिव्य चेतनाके इस प्रसारकी सीमा क्या हम कहीं बांध सकते हैं? क्या यह केवल एक कथा ही है कि बुद्ध जब निर्वाणकी ड्योढीपर पहुचे तो उनका आत्मा वहांसे वापस लौटा और उन्होंने यह प्रण किया कि इस पृथिवीपरका एक भी जीव जबतक दुःखकी पकडसे, अहंकारके बंधनसे मुक्त होनेको बाकी रहेगा तबतक वे इस ड्योढीको लांघकर सदाके लिये उस पार नहीं जायगे?

परंतु विश्व-चेतनाके विस्तारसे अदृश्य हुए बिना भी हम उच्चतम सद्वस्तुको प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्म अपने इन दो पदोंको सदा युगपत् धारण किये रहता है, आंतर स्वातंत्र्य और बाह्य रूपायन, आत्म-अभिव्यक्ति और उस अभिव्य-क्तिसे स्वातंत्र्य। हम भी, चूंकि वह तत् ही है इसलिये

भागवत आत्मसत्ताको प्राप्त करते हैं। जिस जीवनका लक्ष्य अपनेको वस्तुतः दिव्य बनाना हो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह ब्रह्मके इन दो पदोंका अपने अंदर सामंजस्य साधन करे। जिस वस्तुको पाकर हम स्वातंत्र्यकी ओर आगे बढते हैं स्वयं उस वस्तुका ही बहिष्कार करनेका परिणाम यह होता है कि यह बहिष्कार हमें नकारके मार्गसे ले जाकर उसको अस्वीकार कराता है जिसको ईश्वरने स्वीकार किया है। कर्म और क्रियाशक्तिमें लीन हो जानेके द्वारा कर्तव्यताकी ओर आगे बढनेका परिणाम होता है हमारा किसी हीनतर वस्तुको स्वीकार करना और उच्चतम सद्वस्तुको इनकार करना। परंतु ईश्वर जिन्हें सम्मिलित और समन्वित करता है, क्यों फिर मनुष्य उनका विछोह करानेका आग्रह करे ? जैसा वह पूर्ण है वैसा ही पूर्ण बनना, यही है उसको पूर्ण रूपसे प्राप्त करनेकी शर्त।

अविद्याके भीतरसे, बहुत्वके भीतरसे ही हमारा वह पथ है जो हमें इस मध्यवर्ती अहंभावी आत्म-अभिव्यक्तिसे जहां मृत्यु और दुःखकी प्रधानता है, बाहर ले जाता है; बहुत्वके अन्दर भी एकत्वके पूर्ण बोधके द्वारा अविद्याके साथ मिलाप करती हुई विद्याके भीतरसे हम अमरत्व और परमानंदका सर्वांगीण उपभोग करते हैं। समस्त भूतभावके परे जो अज आत्मा है उसे प्राप्त कर हम इस निम्नतर जन्म और मृत्युसे मुक्त हो जाते हैं, भूतभावको भगवान्‌की ही भांति स्वच्छंदभावसे स्वीकार कर हम नश्वरतापर अमर परमानंदके साथ धावा करते हैं और हम बन जाते हैं मानव-जातिमें उस परमानंदकी चिन्मय आत्म-अभिव्यक्तिके प्रकाशमान केंद्र।

हमारे नये केन्द्र

१ श्री. नटवरलाल शिवशंकरजी दीक्षित, पो. **तारापुर** जि खेडा
२ ,, महाराज जगन्नाथरावजी पो. **मंथनी** जि करीमनगर
३ ,, पं. कृष्ण गोपाल शर्मा बी ए सी. टी. पो **नरायना** जयपुर
४ ,, मुख्याध्यापक, नूतन कन्याशाळा, पो. **अमरावती** मध्यप्रदेश
५ ,, सूरजनदास स्वामी गव्हर्नमेंट इन्टर कालेज पो. **किशनगढ** राजस्थान
६ ,, सुरतसिंह उमेदसिंह चौहान, हेडमास्तर, दिनबाई हायस्कूल पो **दिग्रस** जि. यवतमाळ
७ ,, अमृतलाल पुरुषोत्तम जोशी, मोडासा हायस्कूल, पो. **मोडासा** जि. साबरकांठा
८ ,, प्रमोदचंद्र गणपतिशंकर शुक्ल, राजपीपला हायस्कूल पो. **राजपीपला** जि भरुच
९ ,, पं. बोम्मकंटि साम्बलिंगम गुप्त, पो. **वेलुगुपल्ली** जि नलगोंडा
१० ,, नरहर यशवंतराव महाजन, सरकारी माध्यमिक शाला, पो. **लातूर** जि. उस्मानाबाद
११ ,, गजराज सी. मेस्कर, गव्हर्नमेंट हायस्कूल, पो. **महबूबनगर** हैद्राबाद राज्य
१२ ,, मनोहर नामदेव डंख, पो **परतूर** जि. परभणी
१३ ,, रामाचार्य पुरोहित, कर्नाटक तरुण संघ, पो. **हनमसागर** जि. रायचूर
१४ ,, देवीदासराव सीतारामराव चामनीकर, पो. **पाथ्री** जि. परभणी
१५ ,, बलवंत गुणवंतराव पावडे, पो. **बेलोरा** जि. अमरावती
१६ ,, रतनलालजी मूंदडा, पो **परभणी** हैद्राबादराज्य
१७ ,, लाजवंती देवजी मुख्याध्यापिका, आर्यपुत्री पाठशाला, पो. **अबोहर** पंजाब
१८ ,, मगनलाल पीतांबर पाठक, पो. **डुंडाव** जि. बडौदा
१९ ,, ज वै. नाईक, पो. **भालकी** जि. बीदर (हैद्राबादराज्य)
२० ,, हरि विष्णु बापट हेडमास्तर, गव्हर्नमेंट हायस्कूल, पो. **मोर्शी** जि. अमरावती
२१ ,, लक्ष्मीदेवीजी मल्कानी, गव्हर्नमेंट मिडिल स्कूल, पो. **गांधी नगर** जि. सिरोही (भोपाल)

वैदिक व्याख्यान माला
नववाँ व्याख्यान

ॐ

वैदिक राष्ट्र-गीत

सब मानते हैं कि 'वेद' में सब विद्याएं हैं। सब विद्याएं सूक्ष्मरूपसे वेदमें हैं, यह स्मृतियोंमें भी कहा है 'सर्वज्ञानमयो वेदः' यह प्रसिद्ध वेदप्रशंसा है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं' ऐसा मनुस्मृतिमें कहा है। ऐहिक और पारलौकिक सब विद्याएं वेदमें है, ऐसा माननेसे अथवा कहनेसे कार्य नहीं चल सकता, प्रत्युत जो विद्याएं वेदमें हैं, उनको बाहर निकाल कर जनताके सामने रखना चाहिये, इसी तरह जो गुप्त रूपमें विद्या वेदमें होगी, उसको बाहर निकालकर जनताके सामने प्रकट रूपमें सिद्ध करके बताना चाहिये। वैदिक धर्मियोंपर यह भार इस समय है। इसलिये इस लेखमें वेदमें 'राष्ट्रगीत' है और वह बडा सारगर्भित है, तथा आजकलके समस्त देशोंके राष्ट्रगीतोंसे वह अधिक बोधप्रद है, यह हम इस लेखमें बताना चाहते हैं।

वेदमें 'राष्ट्रगीत' है, इतना सिद्ध होनेसे वेदमें राष्ट्र-विषयक विचार हैं, यह स्वयंही सिद्ध हो सकेगा, और राष्ट्र-शासन, राष्ट्ररक्षण और राष्ट्रके अभ्युदय के संबंधके सब विचार वेदमें हैं, ऐसा भी परपरया मानना सुगम होगा। इसलिये 'वैदिक राष्ट्रगीत' का मनन हम इस लेखमें करते हैं।

अथर्ववेदके १२ वें काण्डके प्रथम सूक्तमें यह "वैदिक राष्ट्रगीत" है और "ग्रामपत्तनादिरक्षणार्थम्"। 'गांव, नगर आदिके संरक्षणके समय इसका पाठ करना चाहिये' ऐसा इस सूक्तका विनियोग वहां कहा है। राष्ट्रगीतका यही उपयोग सर्वत्र होता है। यह सूक्त 'अथर्वाऋषि' का है। इस सूक्तका देवता 'मातृभूमि' है और 'राष्ट्ररक्षणके कर्म' में इसका विनियोग है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह सूक्त निःसंदेह राष्ट्रगीत है और आज कलके राष्ट्रगीत जिस कार्यमें बोले या गाये जाते हैं, उसी कार्यमें यह गीत भी गाया जाता था। इस राष्ट्रगीतमें 'मातृभूमि' का स्पष्ट निर्देश भी है देखिये—

मातृभूमिकी कल्पना

१ माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः॥ १२।१।१२
२ सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ १२।१।१०
३ भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्॥ १२।१।६३

इन मन्त्रोंमें मातृभूमिकी अत्यंत स्पष्ट कल्पना है।

"(१) मेरी माता भूमि है और मैं इस मातृभूमिका पुत्र हूँ। (२) यह मातृभूमि मैं जो पुत्र हूँ उस पुत्रके लिये पर्याप्त दूध अर्थात् खानेकेलिये अन्न देवे। (३) हे मातृ-भूमे! मुझे सुरक्षित रख।" ये मन्त्र स्पष्ट हैं और इनमें मातृभूमि और उसके पुत्र इनकी स्पष्ट कल्पना है। मैं मातृ-भूमिका पुत्र हूं। 'पुत्र' का अर्थही (पुनाति त्रायते च) पवित्र करनेवाला और संरक्षण करनेवाला ऐसा है। मातृभूमिके पुत्रका कर्तव्य यहां बताया है। जो पुत्र है वह पवित्र बने, पवित्रता करे और अपनी माताका संरक्षण करे। इस तरह इन मन्त्रोंमें मातृभूमिका संरक्षण करनेका कर्तव्य ही मातृभूमिके सुपुत्रोंका है ऐसा स्पष्ट कहा है। यह सत्य भी है। माताका उत्तम संरक्षण करना यह सुपुत्रका कर्तव्यही है, यह क्या कहना आवश्यक है? यह तो हरएक पुत्रका कर्तव्य है ही। कुपुत्र ही माताका संरक्षण नहीं करता, जो सुपुत्र है वह तो अपना जीवन अर्पण करके अपनी माताको सुरक्षित रखता है, और उसका संमान बढाता है, यही बात ऊपरके मन्त्रोंमें कही है। भूमि माता

है और जनता उस माताके पुत्र हैं, इस बातका स्पष्ट निर्देश करनेवाला मन्त्र यह है—

हम तेरे पुत्र हैं

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः
त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा
येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥

अ. १२।१।१५

"हे मातृभूमि [तुम्हारे शरीरसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य] तुम्हारे ऊपर संचार करते हैं। तुम ही द्विपादों और चतुष्पादोंका संरक्षण तथा धारण पोषण करती है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद ये पञ्चजन निःसंदेह तुम्हारे ही पुत्र हैं। इनके लिये सूर्य उदय होकर प्रकाश देता है।"

इस मन्त्रमें स्पष्ट रीतिसे कहा है कि, ये पांचों प्रकारके मानव मातृभूमिसे उत्पन्न हुए हैं और मातृभूमिसे इनका पालन पोषण होता है और ये पांचों मातृभूमिपर यथेच्छ संचार करते हैं।*

(त्वज्जाताः) मातृभूमिसे पञ्चजनोंकी उत्पत्ति हुई है, अर्थात् जो जिस मातृभूमिके रहनेवाले हैं, वे ही उस भूमि पर संचार करें, वहीं रहें, वहां जो भोग होते हैं उनको प्राप्त करें और उनका भोग करें। ऐसा कभी न हो कि दूसरे लोग आकर उनका भोग करें और मातृभूमिके पुत्र उनसे वंचित रहें। इस की सूचना देनेके लिये यह मन्त्र इस राष्ट्रगीतमें है। यह मातृभूमि (द्विपदः चतुष्पदः बिभर्षि) द्विपाद मानव तथा पक्षी तथा चतुष्पाद अर्थात् गौ आदि पशुओंका भरण पोषण यह कर रही है। ऐसा ही होना चाहिये। माताका दूध उसके पुत्रोंको मिलना चाहिये। सब लोग इसका विचार मनमें रखें। दूसरे देशको परास्त करके पाशवी बलसे उस देशको लूटना किसी भी देशको योग्य नहीं है।

यदि किसी देशमें ज्ञान और विज्ञान बढा है, कला कुशलता बढी है, तो उनकी शिक्षा वे अन्य देशवासियोंको दें। उनको सुबुद्ध और प्रबुद्ध करें, इस तरह उनकी सेवा करनेके लिये अपने ज्ञान, बल तथा धनका उपयोग करें। विश्व सेवा ही विराट पुरुषका संतोष बढा सकती है। कितना महत्त्व पूर्ण उपदेश इस मंत्रने दिया है!! मनुष्य अन्य देशमें जांय, पर उनको पददलित करनेके लिये नहीं, पर उनकी सहायता करके उनको उठानेके लिये जांय। इस तरह विश्वसेवासे विश्वका सुख बढावें और सबके दुःख दूर करें। विश्वको पददलित करनेसे द्वेष बढेगा, जो निःसंदेह युद्धोंको बढावेगा।

अनेक भाषी अनेक धर्मियोंका बन्धुभाव.

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ अ. १२।१।४५

"(बहुधा विवाचसं जनं बिभ्रती) अनेक प्रकारकी विविध भाषाएं बोलनेवाले और (नाना-धर्माणं) अनेक धर्मोंको धारण करनेवाले जनसमुदायोंको (यथा ओकसं) एक घरमें रहनेवाले भाईयोंके समान यह मातृभूमि धारण करती है। यह भूमि हमें धनकी हजारों धाराएं देती रहे, जैसी दुहनेके समय न हिलनेवाली गौ दूध देती है।"

यहां 'विवाचसं, नानाधर्माणं जनं' ये पद बडे महत्त्वके हैं। 'वि-वाचसं' का अर्थ अनेक प्रकारकी भाषाओंको बोलनेवाले लोग मातृभूमिमें रहते हैं। प्रत्येक प्रान्तमें भाषा भिन्न होती है। भारतमें ही देखिये काश्मीरी पंजाबी, सिन्धी, बलुची, पुश्तो, हिन्दी, बिहारी, बंगाली, राजपुतानी, गुजराती, कच्छी, मराठी, कन्नडी, तेलगु, तामील, मलयालं आदि कई भाषाओंको बोलनेवाले लोग यहां हैं, प्रत्येक देशमें इसी तरह प्रान्त भाषा विभिन्न होती है। रूसमें भी इसी प्रकार अनेक भाषाएं हैं। प्रान्तिक बोलियाँ भी इसी तरह विभिन्न होती हैं।

मनुष्योंके धर्म भी विभिन्न होते हैं। यहांका धर्म शब्द हिंदुधर्म बुद्धधर्म जैसे धर्मोंका बोधक नहीं है। वेदके समय ये मानव निर्मित धर्म नहीं थे। अतः यहांका धर्म शब्द मानवकी मनः प्रवृत्तिका वाचक है। मानवमें ज्ञानप्रवृत्ति, वीरवृत्ती, संग्रहवृत्ती और कर्मवृत्ती स्वभावतः होती है। ये मानवके विविध स्वभाव धर्म हैं। ऐसे विविध स्वभाव धर्मके कारण मानवोंमें अनेक प्रवृत्तियां होती हैं, तो भी [यथा ओकसं] एक घरमें रहनेवाले भाईयोंके समान सब

विभिन्न प्रवृत्तीके लोग इस मातृभूमिमें रहते हैं और एक मनसे अपनी मातृभूमिकी सेवा करते हैं और अपना आनन्द बढाते हैं।

प्रवृत्तियां विभिन्न होनेपर भी एक देशवासीयोंमें एकता रहनी चाहिये। यह उपदेश इस मन्त्रमें है और वह बडाही लाभदायी है। जैसी मां अपने बच्चेको अपना दूध देती है और उसका पोषण करती है, उसी तरह मातृभूमि अपने धान्यरूपी दूधसे अपने बच्चोंका पालनपोषण करती है। यह अमूल्य उपदेश इस मंत्रसे मिलता है।

देवोंद्वारा बसाए हुए नगर

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भाम्
आशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ अ. १२।१।४३

"जिस हमारी मातृभूमिके नगर देवोंद्वारा बनाए हैं, तथा जिस हमारी मातृभूमिके क्षेत्रोंमें मनुष्य विविध प्रकारके कार्य करते हैं, उस अनेक उत्तम पदार्थोंको अपने गर्भमें-अपनी खानोंमें धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रजापालक परमेश्वर प्रत्येक दिशामें हमारे लिये अत्यंत रमणीय बनावे।"

हमारी मातृभूमि हमारे लिये प्रत्येक दिशामें रमणीय होनी चाहिये। नगर हो या ग्राम हो, जहां मनुष्य जाय, वहां रमणीयता दीखनी चाहिये। अपनी मातृभूमिपर किसी स्थानपर उदासीनता नहीं रहनी चाहिये। मनुष्योंका यह कर्तव्य है कि वे अपने नगरों और ग्रामोंको तथा वनोंको रमणीय बनानेका यत्न करें। सर्वत्र शोभा दीखनी चाहिये। आकर्षकता बढानी चाहिये। सौंदर्य सर्वत्र ओतप्रोत रहना चाहिये। वेदधर्म चाहता है कि मनुष्य अपने ग्रामों, पत्तनों, नगरों और पुरियोंको अत्यंत सुन्दर बनावें।

देव निर्मित नगरियां हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारका है, रामचन्द्रकी अयोध्या है, हरका हरद्वार है, बद्रिनाथ बद्रिकेदार बन देवोंके लिये सुप्रसिद्ध है। कालीका कलकत्ता है, रामचन्द्रका बढाया रामेश्वर है, भवानीका कन्याकुमारी है, श्रीरंग श्रीरंगनाथका है, श्री कृष्णकी मथुरा है, वृंदावन भी उसीसे पवित्र बना है, इस तरह देवताओंके कारण प्रसिद्ध हुए नगर अपने देशमें तथा अन्यान्य देशोंमें भी प्रसिद्ध हैं। इसका ज्ञान तद्देशियोंको होना चाहिये। हम जिस नगरमें रहते हैं, उस नगरका प्राचीन इतिहास उन नगरवासीयोंको विदित होना चाहिये। इससे अपने नगरका तथा अपने राष्ट्रका प्रेम उन निवासियोंके मनोंमें स्थिर रहता है। ऐसा प्रेम अपने देशके नगरोंके विषयमें तथा अपने राष्ट्रके विषयमें देशवासियोंमें हो और वह बढे, ऐसी सुशिक्षा युवकोंको मिलनी चाहिये, यह बोध इस मंत्रसे प्राप्त होता है। यही विचार और देखिये—

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥
अ. १२।१।३९

"जिस मातृभूमिमें देशका भूतकाल बनानेवाले प्राचीन ज्ञानी ऋषियोंने सत्र, यज्ञ तथा तप करके (सप्त गाः) सात भूविभागोंका उद्धार किया, वही हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है।"

इस मंत्रमें कहा है कि इस भूमिमें (भूत-कृतः ऋषयः) भूतकालमें उज्ज्वल ज्ञानका प्रचार करनेवाले ऋषि हुए थे। उदाहरणके रूपमें देखिये वसिष्ठ, भरद्वाज, वामदेव, अत्रि, विश्वामित्र, गौतम आदि ऋषियोंने इस देशमें सर्व प्रथम ज्ञानका प्रचार किया था। इसी तरह अन्यान्य देशोंमें अन्य ऋषियोंने किया। ये भूतकाल बनानेवाले ऋषी यहां हुए ऐसा प्रत्येक देशके निवासियोंको विदित रहना चाहिये। प्राचीन समयमें इन ऋषियोंने इस ज्ञानका प्रचार किया, इन क्षत्रिय वीरोंने इस देशका इस युद्धमें इस शत्रुसे संरक्षण किया, इन वैश्योंने धनधान्यकी वृद्धी की और जनताको सुखी बनाया, इन कुशल शिल्पियोंने ये शिल्प बनाये और देशका सौंदर्य बढाया। यह ज्ञान देशवासियोंको होना चाहिये, जिससे अपने भूतकालके विषयमें आदर बढता है, देश प्रेम वृद्धिंगत होता है और भविष्यमें वैसे शुभ कर्म करनेका उत्साह जनतामें बढता है। भूतकालके इतिहासका ज्ञान इस तरह जनताका उत्साह बढाता है। इस ज्ञानको प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। यही बात और अधिक स्पष्ट अगले मन्त्रमें बताई है वह देखिये—

देव ऋण

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ अ. १२।१।५

" जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया था और जिसमें देवोंने असुरोंको भगा दिया था, जो मातृभूमि गौवों, घोडों और पक्षियोंको रहनेके लिये अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे । "

इस मन्त्रमें भी प्राचीन इतिहासकी ओर निर्देश किया है। (पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे) प्राचीन पूर्वजोंने जिसमें विविध पराक्रम किये थे, पराक्रम करके मातृभूमिका संरक्षण किया था, इसी तरह (देवा असुरान् अभ्यवर्तयन्) जिस मातृभूमिके रक्षणार्थ देवोंने असुरोंको भगा दिया था, अपने ही मातृभूमिमें देखिये, इन्द्रने वृत्र, शंबर आदि असुरोंका नाश किया, रामने रावणादिकोंका नाश किया, विष्णुने नरकासुर आदिका नाश किया, श्री शंकरने त्रिपुरासुरका नाश किया, इस तरह अनेक देवोंने अनेक असुरोंका नाश किया था और इस राष्ट्रको सुरक्षित रखा था, यह प्राचीन इतिहास देखना आवश्यक है। इसको देखनेसे तरुणोंमें मातृभूमिके रक्षण करनेका उत्साह बढता है। यह उत्साह जनतामें बढे इसीलिये इन मंत्रोंमें ये निर्देश आगये हैं। इस कारण इनका विशेष महत्व है। यही वर्णन अगले मंत्रमें विशेष स्पष्टतासे देखिये—

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रिरे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥
अ. १२।१।१०

' अश्विदेवोंने जिस भूमिका मापन किया, विष्णुने जिस भूमिमें अनेक पराक्रम किये, शक्तिशाली इन्द्रने जिस भूमिको अपने लिये शत्रुरहित किया, वह हमारी मातृभूमि, माता जैसी अपने पुत्रको दूध देती है, उस तरह हमें उपयोगी पदार्थ देवे । "

इस मंत्रमें विष्णु और इंद्रके पराक्रमोंका स्पष्ट निर्देश है। इस उपलक्षणसे अन्यान्य वीरोंके पराक्रम भी जानने योग्य हैं।

अश्विदेवोंने भूमि, पर्वत, नदी, तालाव आदिके क्षेत्रोंका मापन किया और यह क्षेत्र इतना है, यह इतना है ऐसा निश्चित किया। भूमिका मापन सबसे प्रथम अश्विदेवोंने किया और मानवोंकी गणना सबसे प्रथम गणपतिने की। मनुष्य गणना भी मानवी उन्नतिका एक उत्तम साधन है। इसी तरह अश्विदेवोंने जो जो भूमापन किया, वह भी उन्नतिके लिये सहायक था, इसलिये किया।

जिस तरह इंद्र और विष्णुने असुरोंका नाश किया और मातृभूमिकी सुरक्षा की, उसी तरह अश्विदेवोंके भूमापन किया और प्रमाणबद्धता ग्रामों और नगरोंकी की। सभ्यताकी सुरक्षाके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है। यह बात इस मन्त्रने सूचित की है।

मातृभूमिका संरक्षण

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहां
अथो उक्षतु वर्चसा॥ अ० १२।१।७.

" ज्ञानी और वीर जिस मातृभूमिकी आलस्य न करते हुए सर्वदा रक्षा करते रहते हैं, वह मातृभूमि हमें मधुर और प्रिय अन्न देवे और तेजसे हमें युक्त करे। "

इस मंत्रमें कहा है कि मातृभूमिकी सुरक्षा (विश्वदानीं) सदा सर्वदा करनी चाहिये और (अप्रमादं) प्रमाद न करते हुए करनी चाहिये। मातृभूमिके सुपुत्रोंमें जो ज्ञानी हों वे ज्ञानसे, जो वीर हों वे अपने वीर्यसे, जो धनी हों वे अपने धनसे और जो कर्मचारी हों वे अपने प्रयत्नसे मातृभूमिको सुरक्षित रखनेका यत्न करें। अपनी पराकाष्ठा करके मातृभूमिको सुरक्षित रखें। किसी तरह शत्रुका आक्रमण अपनी मातृभूमिपर होने न दें।

मातृभूमिमें जो मधुर और सामर्थ्य बढानेवाला अन्न और खाद्य पेय होगा, वह सब उस मातृभूमिके पुत्रोंको ही मिले। कोई दूसरे शत्रु अपने पाशवी बलसे आक्रमण करके उस अन्नको लूट न सकें। ऐसी व्यवस्था स्थायी रूपसे राष्ट्रमें होनी चाहिये। किसी समय किसी कारण इस संरक्षणके विषयकी शिथिलता राष्ट्रमें नहीं होनी चाहिये।

कितना उत्तम और सदा दक्ष रहनेका उपदेश इस मन्त्रने दिया है। मातृभूमिके भक्तोंको यह सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये।

मातृभूमिकी सेवा

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत्
यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥
अ. १२।१।८

" जो मातृभूमि प्रारंभमें जलके अन्दर थी, जिस मातृभूमिकी सेवा मननशील लोग कुशलतासे (तथा राजनीतीसे भी) करते हैं, वह हमारी मातृभूमी हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता और बल धारण करे । "

यहां (मायाभिः अन्वचरन् मनीषिणः) मायाओंसे ज्ञानी सेवा करते हैं ऐसा कहा है । ' माया ' पदके दो अर्थ वेदमें हैं । (१) कुशलता, कार्यकी प्रवीणता, चातुर्य, निपुणता तथा (२) कपट, कुटिलता, कपटपटुता, दावपेंच, शत्रुको चमका देनेकी विद्या । ये दोनों अर्थ माया शब्दमें हैं । शत्रुको परास्त करना है । यदि शत्रु कार्यप्रवीणतासे परास्त होता है, तब तो ठीक है, यदि शत्रु बडा प्रबल है और सरलतासे परास्त नहीं होता, तो उसको कुटिलतासे भी परास्त करना चाहिये । जैसा रामने वालीको छिपकर मारा था, तथा श्रीकृष्णके समक्ष भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि वीरोंका नाश पांडवोंने कपटसे ही किया था। यह माया है । वास्तवमें माया करनेवाले राक्षस ही होते हैं। पर यह विद्या देवोंने भी प्राप्त की । इसलिये कहा जाता है कि राजनीतिमें कपट नीतिके लिये स्थान है । राजनीतिका अर्थही कपटनीति है । सर्व साधारण नीति तो शुद्धनीति है, परंतु राजनीतिमें कपट पटुता आजाती है । कौटिल्यका अर्थशास्त्र देखिये । वह राजनीतिका ग्रन्थ है और उसमें कपट प्रयोगके लिये स्थान है । जिस उपायसे शत्रु मारा जा सकता है, उस उपायसे उसको मारना चाहिये । यह है राजनीतिका सिद्धान्त । यदि प्रबल शत्रुके साथ भी हम सरल व्यवहार करेंगे, तो उसकी प्रबल शक्ति हमारे लिये बाधक होगी, इसमें संदेह नहीं है ।

रावणकी मित्रता होनेसे वाली और रावण मिले थे, परस्पर संघटित थे । रावणको मारना था, इसलिये रावणको निर्बल बनानेके लिये वालीका नाश करना सरल बात नहीं थी, इस कारण अनिवार्य होनेके कारण रामने वालीका वध कपटसे किया। इसमें राजनीतिकी दृष्टीसे कोई दोष नहीं है। इसी लिये इस मंत्रमें कहा है कि (मनीषिणः मायाभिः मातृभूमिं अन्वचरन्) बुद्धिमान लोग कुशलतासे तथा कापट्यसे भी मातृभूमिकी सेवा करते हैं । मातृभूमिकी सुरक्षा करनेके कार्यमें ही इस तरहका शब्द प्रयोग-जिसके दो विभिन्न अर्थ होते हैं-किया है । यह सावधानी ध्यानमें धरने योग्य है । सदासर्वदा, आपसके व्यवहारमें अथवा जहां सरलतासे कार्य चल सकता है वहां कपट प्रयोग शत्रुसे भी नहीं करना चाहिये । यह तो नियम है, पर जिस समय कार्य बनता नहीं, उस समय शत्रुको कापट्यसे जीतना चाहिये । इतनी सावधानी वेदने यहां बतायी है । पाठक भी उतनी सावधानीसे इसका अर्थ समझें ।

कौरव वीरोंके साथ पाण्डव वीरोंने सरल रीतिसे ही युद्ध किया था । बहुत प्रयत्न करके भी उनको परास्त करना पाण्डवोंके लिये शक्य नहीं था । पाण्डवोंकी शक्ति किसी तरह अधिक बढ नहीं सकती थी, पाण्डवोंका पराभवका अर्थ सत्पक्षका पराभव था । सत्पक्षका तो पराभव होना नहीं चाहिये । इसलिये अन्तिम समयमें पाण्डवोंने कपट प्रयोग किया और श्रीकृष्णने उसका अनुमोदन भी, सत्पक्षका जय होनेके लिये ही किया था । मायाका प्रयोग करनेकी यही मर्यादा है । इस मर्यादाका पालन अवश्य होना चाहिये।

अब मातृभूमिका धारण किन गुणोंसे होता है इस विषयमें इस राष्ट्रगीतका मन्त्र जो उपदेश देता है वह देखिये—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १२।१।१

" सत्य, बृहद्भाव, सरलता, उग्रता, दक्षता, शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, ज्ञान और यज्ञ ये आठ सद्गुण मातृभूमिका धारण करते हैं । वह हमारी भूत वर्तमान और भविष्यका पालन करनेवाली मातृभूमि हमारे लिये विस्तृत कार्य क्षेत्र देवे । "

स्वराज्य प्राप्त होनेपर उसका संरक्षण कैसा होता है वह इस मन्त्रने कहा है । भारतको इस समय स्वराज्य मिला है, इस स्वराज्यकी सुरक्षा कैसी होगी, यह प्रश्न हमारे सामने इस समय है, इस संरक्षणके विषयका बोध इस मन्त्रने

दिया है। पीछे दिये कई मंत्रोंमें मातृभूमिका संरक्षण करना चाहिये ऐसा उपदेश किया है। वह मातृभूमिका संरक्षण किस रीतिसे करना चाहिये, इसका ज्ञान इस मन्त्रने दिया है। यहां आठ सद्‌गुणोंका निर्देश है। ये गुण मातृभूमिका धारण करते हैं (पृथिवीं धारयन्ति) ऐसा यहां कहा है। जिस राष्ट्रके लोगोंमें ये आठ गुण होंगे, वे लोग अपनी मातृभूमिका संरक्षण कर सकते हैं। इसलिये संक्षेपसे हम इन आठ गुणोंमें क्या कहा है वह बताते हैं—

१ सत्यं— पहिला राष्ट्ररक्षक शुभ गुण सत्य है। राष्ट्रके मनुष्योंमें विचार, उच्चार, आचारमें सत्य रहना चाहिये। सत्यसे व्यवहार उत्तम होता है और राष्ट्रका रक्षण होता है।

२ बृहत्— बृहद्भाव मानवोंमें रहना चाहिये, एक विशालभाव होता है और दूसरा संकुचित भाव होता है। उदारताका विशाल भाव मनुष्योंमें होना चाहिये। संपूर्ण मानव समाजके कल्याण करनेका यत्न करना, यह विशाल भाव है। 'वसुधैव कुटुंबकं' यह विशाल भाव है। राष्ट्र रक्षणके लिये इसकी आवश्यकता है। इसके विरुद्ध संकुचित भाव यह है कि अपनी जातीका रक्षण करनेके लिये अन्य जातीयोंका नाश करना। अपने कुटुंबका रक्षण करने के लिये अन्य कुटुंबोंका नाश करना। यह संकुचित भाव मातृभूमिका नाश करता है। विशाल उदारताका भाव राष्ट्रकी सुरक्षा करता है।

३ ऋतं— सरलता, सीधापण, तेढेपन का अभाव, निष्कपट आचरण रहना चाहिये। इससे व्यवहार उत्तम होते हैं और मातृभूमिका यश बढता है। राष्ट्रका संरक्षण होता है।

४ उग्रं— उग्रता, वीरता, शौर्य, धैर्य, युद्ध सामर्थ्य। क्षत्रिय का यह गुण है। राष्ट्रका रक्षण करने में इसका विशेष महत्त्व है।

५ दीक्षा— दक्षता, सावधानता, किसी समय असावधान न रहना। सब कार्य दक्षतासे निर्दोष करना। शिथिलतासे कोई कार्य योग्य रीतिसे नहीं होते। इस लिये सदा दक्ष रहनेका उपदेश यहां किया है।

६ तपः— शीत उष्ण सहन करना, हानिलाभ आदि द्वन्द्वोंको सहना और उत्साहसे अपना कार्य करना चाहिये। जो लोग शीत लगने पर ज्वरित होंगे तथा उष्णता लगने पर जिनका सिर चक्कर खाने लगेगा वे राष्ट्रका संरक्षण किस तरह कर सकेंगे? शीत लगे, उष्णता हो अथवा वृष्टी होती रहे, जिनके शरीर इन तीनों ऋतुओंमें सुदृढ रहेंगे, वेही राष्ट्रका रक्षण कर सकते हैं। मनुष्य शीत उष्ण सहनें करनेवाले बनें, यह आदेश यहां दिया है, वह अत्यंत योग्य है।

७ ब्रह्म— ज्ञान और विज्ञान इसकी मानवोंकी प्रगतिके लिये अत्यंत आवश्यकता है। ज्ञान विज्ञानके विना मानव अन्धा है। विज्ञानसे भौतिक सुख साधन बढाये जा सकते हैं, और आत्मज्ञानसे मानसिक शान्तिका लाभ होता है। अतः मानवोंको उचित है कि वे ज्ञान और विज्ञानमें अपनी अधिक उन्नति संपादन करें और ऐसा करें कि राष्ट्रमें ज्ञान और विज्ञान सम प्रमाणमें परस्पर सहायक होकर रहें। यदि राष्ट्रमें विज्ञान बढेगा और आत्मज्ञान कम होगा, तो उस राष्ट्रमें नास्तिकता बढेगी। भौतिक सुख बढेंगे, पर आत्मिक अशान्ति ही बढेगी। इसी तरह यदि किसी राष्ट्रमें आत्मज्ञान ही बढेगा और विज्ञानकी ओर कोई ध्यान नहीं देंगे, तो उस राष्ट्रमें भौतिक सुख तो रहेंगे ही नहीं; पर निष्क्रियता ही बढती रहेगी। इस लिये ज्ञान और विज्ञान इन दोनोंका समविकास राष्ट्रमें होना चाहिये। इसीको ब्रह्मज्ञान कहते हैं। प्रकृति, जीव और परमात्मा (त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म एतत्। श्वे. उ.) ये तीनों-का जो साकल्येन ज्ञान है वही ब्रह्मज्ञान है। तात्पर्य यह है कि यह सब ज्ञान राष्ट्रमें रहना चाहिये।

आज भारतमें थोडासा आत्मज्ञान है पर यहां निष्क्रियता है, युरोपमें विज्ञान है पर वहां नास्तिकता है। ये दोनों अवस्थाएं अयोग्य अतः हानिकारक हैं। इसलिये राष्ट्रकी उन्नतिके लिये दोनों ज्ञान विज्ञान राष्ट्रमें बढने चाहिये।

८ यज्ञ— श्रेष्ठ सज्जनोंका सत्कार करना, आपसकी संघटना करना और दीनोंका उद्धार करना ये तीन कार्य यज्ञके हैं। सज्जनोंका सत्कार करनेसे समाजमें तथा राष्ट्रमें श्रेष्ठोंकी प्रतिष्ठा बढती है, संघटनासे राष्ट्रका बल बढता है और दीनोंका उद्धार होनेसे दीनता दूर होती है, राष्ट्र समर्थ बनता है। दीनता चार प्रकारकी है और उसको दूर करना भी चार प्रकारसे ही होता है। ज्ञान हीनताके कारण

होनेवाली हीनता ज्ञानके प्रसारसे दूर होती है, निर्बलताके कारण होनेवाली दीनता बल बढानेसे तथा शौर्य वीर्य, धैर्य बढानेसे दूर होती है, धनहीनताके कारण होनेवाली दीनता राष्ट्रमें कार्यव्यवहार बढानेसे धन प्राप्त होनेसे दूर होती है। और कर्म शक्तिके अभावसे उत्पन्न होनेवाली दीनता कर्म कौशल तथा कर्म प्राविण्य बढानेसे दूर होती है। इस चार ही प्रकारकी दीनताको दूर करनेके ये चार उपाय हैं। इसका नाम यज्ञ है, गीतामें द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ, स्वाध्याय-ज्ञान यज्ञ, योग यज्ञ आदि अनेक यज्ञ कहे हैं, वे सब इन सब दीनताओं को दूर करनेके लिये ही हैं। यज्ञसे ही यह सब होता है और राष्ट्र बलवान बनता है। यज्ञ अनेक प्रकारके हैं और वे सबके सब इस तरह राष्ट्रको बलवान बनानेके लिये ही हैं।

इस तरह वे आठ शुभगुण राष्ट्रका धारण करते हैं (धारयन्ति) अर्थात् ये उत्तम श्रेष्ठ गुण राष्ट्रको पराभूत होने नहीं देते। इस लिये इन गुणोंको राष्ट्रमें बढाना चाहिये।

राष्ट्रके शिक्षा मंत्रीके द्वारा राष्ट्रमें ज्ञान विज्ञानका प्रसार हो सकता है, सत्य ऋत और दक्षता का भाव भी सुरक्षासे ही बढ सकता है। संरक्षणके मंत्रीके प्रबंधसे राष्ट्रमें उग्रता, शीतोष्ण सहन करनेका सामर्थ्य आदि बढाया जासकता है और जनता का शौर्य वीर्य प्रभावी किया जा सकता है। इस तरह राष्ट्रके शासनकर्ताओंके सुयोग्य प्रबंधसे ये सभी आठ गुण राष्ट्रमें बढाये जा सकते हैं और राष्ट्र अपने सामर्थ्यसे अपना संरक्षण करनेमें समर्थ हो सकता है। यह सब प्रबंध करनेका भार इस मंत्रके पूर्व अर्धने लोगोंपर रखा है। इस दृष्टीसे यह मत्र बहुमूल्य उपदेश दे रहा है।

हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ है, पर हमारे अन्दर ये आठ गुण जितने बढने चाहियें उतने बढाये नहीं हैं। इसलिये हमारे राष्ट्रके संरक्षणका कार्य जिस तरह होना चाहिये, उस तरह नहीं हो रहा है। यहां पाठक इस मंत्रके कहनेकी सत्यताका अनुभव ले सकते हैं। राष्ट्रगीतके पहिले ही मंत्रमें वेदने इतना उपयोगी उपदेश दिया है। यही इस राष्ट्रगीत की श्रेष्ठता है।

इस मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि " हमारी मातृभूमि हमारे लिये विस्तृत कार्य क्षेत्र करके देवे।" अर्थात् हमारे लिये हमारे राष्ट्रमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले। मातृभूमिके सुपुत्रोंको अपने राष्ट्रमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलना चाहिये। ऐसा कभी नहीं होना चाहिये कि राष्ट्रके सुपुत्रोंको अपने राष्ट्रमें कार्यक्षेत्र न मिले और दूसरे देशोंके निवासियोंको हमारे देशमें विशाल कार्यक्षेत्र मिलता रहे। यह विशाल कार्यक्षेत्रकी प्राप्ति तो सुयोग्य शासन प्रबंधसे ही हो सकती है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः अ. १२।१।१२

' हमारी माता भूमि है और मैं उस माताका पुत्र हूं ' मातृभूमिके विषयमें मातृप्रेम जनतामें रहना चाहिये यह इस मन्त्रमें कहा है। इस तरह मातृभूमिके विषयमें प्रेम रहेगा तोही वे लोग अपनी मातृभूमिका रक्षण करनेके लिये तैयार रहेंगे।

शत्रुका नाश

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्यात्
योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥
अ. १२।१।१४

" हे मातृभूमे! हे अपूर्व कार्य की स्फूर्ति देनेवाली भूमि। जो हमारा द्वेष करता है, जो हमारे ऊपर सैन्य भेजता है, जो मनसे हमें दास करनेका उद्योग करता है और जो हमारा वध करता है, उसका पूर्णतया नाश हो।"

यहां शत्रुके कई प्रकारके भेद वर्णन किये हैं। द्वेष करना, सैन्य भेजकर उपद्रव देना, दास करनेकी योजना करना और वध करना ये हैं शत्रुके लक्षण। जो इस तरह के शत्रु हों उनका पूर्ण नाश होना चाहिये।

मातृभूमिकी सेवा

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्। शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा ॥ अ १२।१।१७

" हमारी मातृभूमि उत्तम औषधियोंको निर्माण करती है। इस भूमिको हम धर्मसे धारण करते हैं। इस शुभ तथा सुखदायी मातृभूमिकी हम सर्वदा सेवा करेंगे।" इस मंत्रमें मातृभूमिकी सेवा करनेका व्रत राष्ट्रमें रहनेवाले सब लोकोंको अपने आचरणमें रखना चाहिये यह उपदेश है।

मातृभूमिकी वंदना

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ।२६

अ. १२।१।२६

" जिस भूमिके अन्दर सुवर्ण आदि प्रशस्त धातु रहते हैं, उस मातृभूमिको मैं वन्दन करता हूं। "

यहां मातृभूमि वन्दन करने योग्य है ऐसा कहा है। " वन्दे मातरं " कहनेके समानही ' पृथिव्या अकरं नमः ' यह मन्त्र भाग है। मातृभूमिकी वन्दना करनी चाहिये यह भाव यहां है।

युद्धके ढोल

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति यस्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान् असपत्नं
मा पृथिवी कृणोतु ॥ १२।१।४१

" जिस भूमिमें लोग आनन्दसे नाचते और खेलते हैं, जिसमें वीर शत्रुके साथ युद्ध करते हैं, उस युद्धके समय जिसमें युद्धके ढोल बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओंको दूर भगा देवे और हमें शत्रुरहित करे ॥ "

राष्ट्रमें लोग आनन्दके समय प्रसन्नतासे नाचें, खेलें और आनन्द करें। पर युद्धका समय आनेपर युद्ध करके शत्रुको भगानेके लिये भी तैयार रहें। और अपना राष्ट्र शत्रुरहित बना देवें। यह है ध्येय। शत्रु न रहे ऐसा करना चाहिये। ऐसा करने पर भी यदि दुष्ट लोग शत्रुता करने लगें, तो उनका पूर्ण नाश करना चाहिये।

मैं विजयी होऊंगा

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः।

अ. १२।१।५४

" मैं विजयी होकर अपनी मातृभूमिमें अधिक श्रेष्ठ बनकर रहूंगा। मैं सब शत्रुओंका पराभव करूंगा और दिशा उपदिशाओंमें विजयी बनूंगा।" इस तरह विजयकी इच्छा हरएकको अपने मनमें धारण करनी चाहिये। तथा-

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥

अ. १२।१।५६

" जो ग्राम वा नगर हैं, जो अरण्य हैं और जो हमारी मातृभूमिमें सभाएं, समितियाँ और जो संग्राम होते हैं, उन सबमें मातृभूमिके विषयमें उत्तमही भाषण करूंगा।" कदापि अपनी मातृभूमिके विषयमें मैं हानिकारक भाषण नहीं करूंगा। यह उपदेश हरएकको ध्यानमें धरने योग्य है।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः ॥

अ. १२।१।५८

" मातृभूमिके विषयमें मैं जो बोलूंगा वह मीठाही होगा। जो देखूंगा वह मातृभूमिके रक्षणके लिये ही होगा। मैं तेजस्वी, वेगवान्, बलवान् होकर शत्रुओंका नाश करूंगा।"

आत्मबलिका अर्पण

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्य बलिहृतः स्याम ॥

अ. १२।१।६२

" हे मातृभूमे ! तुम्हारेसे उत्पन्न हुए हम सब लोग रोगरहित तथा क्षयादि दोषरहित होकर तुम्हारी सेवा करनेके लिये तुम्हारे समीप रहेंगे। तुमसे उत्पन्न हुए भोग हमें प्राप्त हों, हम ज्ञानी बने, दीर्घायु बनें, और तुम्हारे यशको बढानेके लिये अपने सर्वस्व का बलि अर्पण करनेके लिये सिद्ध हों। "

हम नीरोग, दोषरहित, क्षयादि व्याधियोंसे दूर हों, हम बलवान बने, ज्ञानी बनें तथा सुदृढ होकर दीर्घायु बनें और मातृभूमिका यश बढानेके लिये (बलिहृतः स्याम) बली अर्पण करनेवाले बनें।

इस वैदिक राष्ट्रगीतमें और भी बोधप्रद मंत्र कैसे उत्तम हैं उनको अब देखिये—

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥ अ. १२।१।४

' जिस मातृभूमिमें चारों दिशाओंमें अनेक खेत हैं, जिनमें किसान आपसमें मिलकर उत्तम अन्न उत्पन्न करते हैं। जो

सब प्राणियों और घूमनेवालोंको उत्तम प्रकार धारण करती है, वह मातृभूमि हमें गौओंमें तथा अनेक प्रकारके अन्नोंमें रखे। '

अर्थात् हमें पर्याप्त गौ आदि पशु मिले और अनेक प्रकारके अन्न प्राप्त हों। कृषीवल इस हमारी मातृभूमिपर उत्तम अन्न उत्पन्न करते हैं, जिस कारण अपने देशमें उत्पन्न हुआ अन्न हमें पर्याप्त प्रमाणमें प्राप्त होता है, ऐसा यह देश हमारा प्रिय देश है। तथा और देखिये—

यस्यामापः परिचराः समानीः
अहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहां
अथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥ अ० १२।१।९

' जिस हमारी मातृभूमिमें दिनरात जलप्रवाह चलते रहते हैं, वह भूमि हमें भरपूर दूध देवे और तेजोमय बलके साथ हमारा सामर्थ्य बढावे ' इसमें श्लेष अलंकार है। (परिचराः) परिचर पद परिभ्रमण करके सेवा करनेवाले स्वयं सेवकोंका भाव बताता है। जिस मातृभूमिमें प्रमाद न करते हुए रातदिन जलके प्रवाह चलते रहनेके समान, स्वयं सेवक जनताकी सेवा करनेके लिये सतत घूमते रहते हैं, वह भूमि हमें दूध घी आदि पदार्थ देवे और हमारा तेज भी बढावे। (आपः समानीः) जलप्रवाह समानता स्थापन करते हैं। जल जब प्रवाहित होता है, तब वह प्रथम गढोंमें भरता है, भरकर उनको (समा-नीः) समान करके फिर आगे बढता है। इस तरह राष्ट्रके (परिचराः) परिचारक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक राष्ट्रमें सर्वत्र समानता निर्माण करते हैं, जहां न्यूनता होती है वहां भरपूर पूर्णता करते हैं और रातदिन प्रमाद न करते हुए जनतामें शान्ति स्थापनका कार्य करते रहते हैं, सदा तत्पर होकर सेवा करते हैं। ऐसी राष्ट्रसेवा करनी चाहिये यह उपदेश यहां किया गया है।

अध्यक्षका निर्वाचन

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते
पृथिवी स्योनमस्तु । बभ्रुं कृष्णां
रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं
पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् । अजीतोऽहतो
अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥ अ० १२।१।११

' हे मातृभूमि ! तुम्हारे पहाड और पर्वत, हिमाच्छादित शिखर, अरण्य और वन हमारा सुख बढावें। भूरी, काली, उपजाऊ, अनेक रंगवाली विस्तृत और स्थिर मातृभूमि हमारे प्रतापी वीरों द्वारा सुरक्षित हुई है। इस भूमिपर अपराजित, अहत और क्षतरहित होकर मैं अध्यक्ष होऊंगा। '

मैं पराजित न होकर इस मातृभूमिका मैं अध्यक्ष होऊंगा यह आकांक्षा मनमें हरएक उत्साही कार्यकर्ता धारण कर सकता है। यहां मातृभूमि हमारा (स्योन) कल्याण करे, मातृभूमिके उपरके पर्वत, नदियां आदि हमारी सहायता करें अर्थात् शत्रुसे हमारी सुरक्षा करे ऐसा प्रथम कहा है। दूसरे चरणमें वीरों द्वारा (इन्द्रगुप्तां भूमिं) सुरक्षित हुई हमारी मातृभूमि है ऐसा कहा है। इससे सरक्षणका भार वीरोंपर है यह स्पष्ट होता है। तीसरे चरणमें मैं आजिंक्य होकर मातृभूमिका अध्यक्ष बनूंगा यह महत्त्वाकांक्षा प्रत्येक उत्साही विद्वान वीर धारण करे ऐसा सूचित किया है। राष्ट्रका अध्यक्ष प्रजा द्वारा चुना हुआ हो यह बात यहां स्पष्ट हुई है और वह आजिंक्य, अक्षत और अमर जैसा नित्य उत्साही हो ऐसा भी यहां सूचित हुआ है।

धर्मसे मातृभूमिका धारण

विश्वस्वं मातरमोषधीनां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा ॥ १७ ॥
अ० १२।१।१७

' हमारा सर्वस्व ऐसी यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये है। यह अनेक औषधियोंका निर्माण करती है। यह राष्ट्र रक्षणके धर्मसे धारण की हुई तथा सुरक्षित रखी हुई विस्तृत ऐसी हमारी मातृभूमि है। सर्वदा इस कल्याणकारी सुखदायी मातृभूमिकी हम सब सेवा करेंगे। '

जो जिस देशके रहनेवाले हैं, वह देश उस देशवासियोंके लिये सचमुच (विश्वस्वं) सर्वस्व है। उनके धर्मयुक्त प्रयत्नोंसे उनको अपने देशका संरक्षण करना चाहिये (धर्मणा धृतां भूमिं) अपनी मातृभूमि अपने लिये (शिवां स्योनां) शुभ और कल्याणकारिणी तथा सुखदायिनी है ऐसा आदर का भाव अपने मनमें रखना चाहिये। तथा (विश्वहा अनुचरेम) सर्वदा हम सब अपनी मातृभूमिकी

सेवा करेंगे ऐसा निश्चय करके वैसी ही सेवा करते रहना चाहिये। शत्रु दूर करनेकीही सेवा करनी चाहिये ऐसा नहीं है, प्रत्युत ज्ञानी अपने ज्ञानके दानसे, शूरवीर शत्रुको दूर करनेसे, धनी अपने धनसे, कृषक अपने अन्नोत्पादनसे, व्यापारी अपने उत्तम व्यापारसे और शिल्पी अपने शिल्पों से मातृभूमिकी सेवा कर सकते हैं और मातृभूमिको सुखी कर सकते हैं।

भरपूर अन्न मिले

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु
जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

अ. १२।१।२२

"अपनी मातृभूमिमें मनुष्य यज्ञ करके देवोंको हवि अर्पण करते हैं, इस भूमिमें मनुष्य उत्तम खानपानसे जीवित रहते हैं। वह हमारी मातृभूमि दीर्घजीवन और शरीरका बल हमें देवे और वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाले हमें बनावे।"

हम वृद्ध अवस्था तक रहें, तब तक हमारी शक्ति स्थिर रहे, तबतक हम मातृभूमिकी सेवा करते रहें। हमें खान-पानके लिये योग्य पदार्थ पर्याप्त प्रमाणमें मिलते रहें। हम अपने पासके अन्नादि पदार्थ देवोंको यज्ञ करके अर्पण करें और देव हमारे लिये पर्जन्य आदि देकर अन्नकी वृद्धि करते रहें। इस तरह परस्परकी सहायतासे परस्परका लाभ होता रहे। यज्ञमें विबुधोंका सत्कार होता रहे, समानोंकी संघटना बढती जाय और दीनोंकी दीनता दूर होती रहे। इस तरह यहां सबका कल्याण होकर सब आनन्द प्रसन्न होते रहें।

किसीको दुःख न हो

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् २८

अ. १२।१।२८

'हम सब चलते फिरते हुए, बैठे हुए, खडे हुए अथवा दौडते हुए दाहिने और बांये पांवोंसे अपनी मातृभूमिमें किसीको दुःख न दें।' अर्थात् हमारा चाल चलन किसी को दुःख देनेवाला न हो। इतनाही नहीं; परंतु हमारा व्यवहार सबका सुख बढानेवाला ही होता रहे। तथा—

विमृग्वरीं पृथिवीमावदामि क्षमां भूमिं
ब्रह्मणा वावृधानाम्। ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्न-
भागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥ २९ ॥

अ. १२।१।२९

'विशेष शुद्ध और ज्ञानसे जिसका धारण किया जाता है, तथा जो बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्न तथा घृत आदि-का धारण करती है, उस मातृभूमिकी हम सब प्रार्थना करते हैं कि 'हे मातृभूमे! हम तुम्हारे आश्रय लेकर आनन्दसे यहां रहेंगे।'

इस तरह सब लोग जाने कि हमारा आश्रय यह मातृ-भूमिही है, यही हमें अन्नपान देती है, रहनेके लिये स्थान देती है, सब प्रकारसे धारण पोषण करती है और हमारा आनन्द बढाती है, इसलिये हमें इस मातृभूमिकी सेवा करनी चाहिये।

हमारा पतन न हों

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे
अधराद्याश्च पश्चात्। स्योनास्ता मह्यं चरते
भवन्तु, मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

अ. १२।१।३१

"हे मातृभूमे! जो तुम्हारी पूर्वदिशा, जो उत्तरदिशा और जो अन्य दिशाएं तथा उपदिशाएं हैं तथा जो नीचेके तथा पीछेके भाग हैं, वे सब मेरे व्यवहार करनेके समय मुझे सुखदायी हों। अपने देशमें आश्रय लेनेपर मुझे कोई न गिरावे।"

अपने देशमें किसी तरह (मा नि पप्तं) मेरी गिरावट न हो। मैं सदा उन्नत होता रहूं।

शत्रुका वध

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरा-
दुत। स्वस्ति भूमे नो भव, मा विदन्
परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥

अ. १२।१।३२

'हे मातृभूमे! पीछेसे मेरा नाश न हो, आगेसे, ऊपरसे अथवा नीचेसे मेरा नाश न हो। हे मातृभूमे! हमारा कल्याण हो। शत्रुको हमारा पता न लगे। सब हमारे वध करनेवाले शस्त्र हमसे दूर जाकर शत्रुपर गिरें।' अर्थात् हम सुरक्षित हों और शत्रुही नष्टभ्रष्ट हो जाय।

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मेचक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥
अ. १२।१।३३

" हे मातृभूमे ! अपने आनन्ददायक प्रकाशसे युक्त सूर्यकी सहायतासे जहांतक तुम्हारे विस्तारको मैं देख सकूंगा, तब तक मेरी आंख कार्य करती रहे और मैं उत्तर उत्तर आयुको प्राप्त होता रहूं। "

मेरी आयु बढे और मैं मातृभूमिकी सेवा करता रहूंगा। मेरी शक्ति क्षीण न हो यह इच्छा यहां प्रकट हुई है।

हमें पर्याप्त धन मिले

सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्रो एतु पुरोगवः॥ ४० ॥
अ० १२।१।४०

' जितने धनकी हम कामना करते हैं, वह सब धन हमें हमारी मातृभूमि देवे। शत्रुहन्ता वीर आगे बढे और धन-देव उसका सहायक हो। ' मातृभूमि हमें पर्याप्त धन देवे। हमारे कार्योंके लिये धन कभी न्यून न हो। शत्रुका नाश करनेवाला (इन्द्र) वीर आगे शत्रुका नाश करनेके लिये बढे और (भगः) धनवान् उसकी सहायता करे। इस तरह वीर और धनी मिलकर अपनी मातृभूमिकी सुरक्षा करते रहें।

मातृभूमिकी वन्दना

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्चकृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥
अ० १२।१।४२

' जिस हमारी मातृभूमिमें चावल और जौ होते हैं और जिसमें ज्ञानी शूर व्यापारी शिल्पी और वन्य ये पांचों लोग आनंदसे रहते हैं, उस वर्षासे आनंदित होनेवाली और पर्जन्यसे पालित होनेवाली हमारी मातृभूमिके लिये हम वन्दन करते हैं। '

विजय करेंगे

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मा
नसश्च यातवे। यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं
पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो
मृड ॥ ४७ ॥ अ० १२।१।४७

' हे मातृभूमे ! जो तेरे ऊपरसे जाने आनेके मार्ग हैं, जिनपरसे मित्र और शत्रु भी संचार करते हैं, तथा जो रथके तथा गाडीके मार्ग हैं। ये सब मार्ग चोररहित और शत्रुरहित हों। जो कल्याणकारी है वही हमारे पास आकर हमें सुख देवे। '

यहां रथके मार्ग और मनुष्योंके चलनेके मार्ग पृथक् हैं ऐसा वर्णन है। (जनायनाः) मनुष्योंके जानेके मार्ग (रथस्य अनसश्च वर्त्मानः) रथके और गाडीके मार्ग ऐसे दो प्रकारके मार्ग हैं। ये सब मार्ग निर्भय और सुखकारी हों।

शत्रु दूर हों

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय॥५०॥
अ० १२।१।५०

' जो हिंसक, कर्मका त्याग करनेवाले, जो कृपण, जो दूसरोंका धन खानेवाले, रुधिर पीनेवाले और जो राक्षस हैं उन सबको हे भूमे ! यहांसे दूर करो। '

(गन्धर्व) गन्धन अर्थात् हिंसाशील, (अप्-सरसः) कर्मसे दूर जानेवाले, कर्तव्य पराङ्मुख, (अ-रायाः) दान न देनेवाले, कृपण कंजूस, (किं-ईदिन) अब क्या खाऊं ऐसा सतत विचार करनेवाले, (पिशाचाः पिशित-अशनाः) रक्त पीनेवाले और सब प्रकारके राक्षस दुष्ट जो होंगे, उन सबको दूर करना चाहिये। राष्ट्रसे इन सब दुष्टोंको बाहर करके जनताको सुखी करना चाहिये।

ईश्वरकी सहायता

त्वमस्यावपनी जनानां
अदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आपूरयाति
प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥
अथर्व १२।१।६१

' हे मातृभूमे ! तू लोगोंको अन्न देनेवाली कामधेनु जैसी प्रशंसाके योग्य हो। तुम स्वयं बडी उपजाऊ हो। जो तेरे अन्दर न्यून होगा उस न्यूनताको सत्ययज्ञका पहिला प्रवर्तक प्रजापालक परमेश्वर परिपूर्ण करेगा।' ऐसा विश्वास ईश्वरपर लोगोंका होना चाहिये। तो सब भक्तोंकी सहायता परमेश्वर

करता है। और वैसे ईश्वरभक्तोंमें यदि कोई न्यूनता होगी, तो उसकी पूर्णता भी वह करता है। प्रयत्नशील सदाचारी लोगोंका यश सदा बढता ही रहता है।

भरपूर खानपान मिले

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ अ. १२।१।३

'(यस्यां समुद्रः) जिस भूमिके साथ समुद्र है, महासागर है, (सिन्धुः आपः) जिस भूमिमें नदियां और जलके झरने हैं, (यस्यां अन्नं) जिस भूमिमें अनेक प्रकारका अन्न उत्पन्न होता है, और जिसमें (कृष्टयः संबभूवु) कृषी करनेवाली प्रजा मिलकर रहती है, (यस्यां इदं प्राणत् एजत्) तथा जिस भूमिमें यह प्राणी जगत् घूमता और फिरता है, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (नः पूर्वपेये दधातु) हमें अपूर्व परिपूर्ण खाद्यपेयोंमें धारण करे अर्थात् हमें उत्कृष्ट खानपान भरपूर देती रहे।

हमारी मातृभूमिके साथ समुद्र लगा है, जहांके जलमार्गसे हम देशदेशान्तरमें जा सकते हैं, जिस मातृभूमिमें नदियाँ और झरने बहुत हैं, अतः जिसमें भरपूर अन्न और रसपान मिलता है। जिसमें रहनेवाले प्रजाजन आपसमें संघटित होकर कार्य करते हैं। वह हमारी मातृभूमि हमें भरपूर खानपान देवे। पूर्ण पेय हमें मिले, नाना प्रकारके अन्नरस हमें मिलते रहें, किसी तरहकी न्यूनता यहां न रहे।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

(यस्याः पृथिव्याः) जिस हमारी मातृभूमिके (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें (कृष्टयः) कृषी करनेवाले लोग (यस्यां अन्नं संबभूवुः) जिसमें मिलकर अन्न उत्पन्न करते हैं (या) जो मातृभूमि (प्राणत् एजत् बहुधा बिभर्ति) प्राणियोंको और हिलनेवाले प्राणिसमूहोंको अनेक प्रकारसे धारण करती है, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (गोषु अन्ने अपि नः दधातु) गौओंमें और अन्नमें हमें धारण करे। हमें पर्याप्त प्रमाणमें गौवोंसे दूध और अन्न देवे।

इसमें भी पर्याप्त संख्यामें गौवें दूध पीनेके लिये हमें मिले, रसदार फल मिले, अनेक प्रकारके अन्न मिलें इस तरह सब प्रकारका भरपूर खानपान मिले, किसी तरह खानपानकी न्यूनताके क्लेश न हों ऐसा कहा है। हरएक मातृभूमिका भक्त इसी तरह इच्छा करेगा।

वृक्षोंका संरक्षण

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा। पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ अ. १२।१।२७

(यस्यां वानस्पत्याः वृक्षाः) जिस हमारी मातृभूमिमें वनस्पतियां और वृक्ष (विश्वहा ध्रुवाः तिष्ठन्ति) सर्वदा स्थिर रहते हैं, अर्थात् जिस भूमिपर हरीभरी वृक्ष वनस्पतियां बहुत हैं, उस (विश्वधायसं पृथिवीं धृतां) सबको धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको हम सुसरक्षित रखते हैं और (अच्छ आवदामसि) मुख्यतया उसका ही हम गुणवर्णन करते हैं।

मातृभूमिमें वृक्षों और वनस्पतियोंका उत्तम सरक्षण करना वहांके निवासियोंका कर्तव्य है क्योंकि वृक्ष वनस्पतियाँ न रहीं, तो वृष्टि कम गिरेगी और जल कम होनेसे अन्नकी उपज कम होगी। इस कष्टदायक अवस्थाको दूर करनेके लिये यह आवश्यक है कि, मातृभूमिमें वृक्षवनस्पतियोंकी अच्छी समृद्धि रहे। प्रजाजन अपनी मातृभूमिका उत्तम संरक्षण करें और अपनी मातृभूमिकी जिन गुणोंमें प्रशंसा करनी योग्य हो उन गुणोंकी प्रशंसा करें।

शरीरकी शुद्धता

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः। पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि ॥ अ. १२।१।३०

हे पृथिवि! (नः तन्वे) हमारे शरीरकी शुद्धिके लिये (शुद्धाः आपः क्षरन्तु) शुद्ध जल भरपूर बहा करे। (यः नः अप्रिये) जो हमारे लिये अप्रिय है उसको हम (सेदुः) मलके समान दूर फेंकते हैं। (पवित्रेण मा उत्पुनामि) जो पवित्र है उससे मैं अपने आपको पवित्र करता हूं।

मनुष्य जलसे अपने शरीर शुद्ध करें, इस कार्यके लिये जितना चाहिये उतना जल मिलता रहे। मातृभूमिपर

अन्नकी न्यूनताकी कभी बाधा न हो। अपने शरीरमें जो मल हैं उनको दूर करके अपना जीवन शुद्ध करना चाहिये। मलोंसे नाना क्लेश उत्पन्न होते हैं। इस कारण शरीर, मन, बुद्धिकी पवित्रता करना अत्यंत आवश्यक है। जलसे शरीर-की शुद्धता, विचारोंसे तथा सत्यसे मनकी शुद्धता, विद्या और शुभ भावनासे बुद्धिकी पवित्रता और तपसे सबकी शुद्धता होती है। 'मातृभूमि' ऐसी प्रेरणा सब प्रजाजनोंमें करें कि जिससे सब लोग शुद्ध पवित्र और यशीय बनें।

ऋतुकालसे समृद्धि

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो
वसन्तः। ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे
पृथिवि नो दुहाताम् ॥ अ १२।१।३६

हे मातृभूमे! तेरे ऊपर आनेवाले वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर ये (ऋतवः) छः ऋतु जो (ते विहिताः) तेरे ऊपर नियत समयमें आते हैं और जो (हायनीः) वर्षभरमें क्रमपूर्वक आते हैं, तथा जो तेरे ऊपर दिन और रात्री आते हैं वे सब (नः दुहातां) हमारे लिये सुख देते रहें।

वसंतऋतुमें वृक्षोंको नवपल्लव तथा फल फूल आते हैं, ग्रीष्ममें भी रसदार फल होते हैं, वृष्टीमें भरपूर जलकी वर्षा होती है। शरद् और हेमंतमें धान्य प्राप्त होता है, शिशिरमें सर्दी आती है। ये सब ऋतु हम सबके लिये भरपूर अन्नरस देकर हमारा सुख बढा देवें। दिन और रात्री ये भी कर्म और विश्रामके लिये मातृभूमिपर क्रम-पूर्वक आते हैं। ये सब कालविभाग मातृभूमिपर वसने-वालोंका सुख बढावें और किसी तरह भी ये हमें दुःखसे न सतावे।

यज्ञचक्रसे अभ्युदय

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्ति ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥
अ. १२।१।३८

(यस्यां सदः हविर्धाने) जिस मातृभूमिमें यज्ञशालाएं हैं और यज्ञके स्थान हैं, (यस्यां यूपः निमीयते) जिस भूमिमें यज्ञके स्तम्भ खडे किये जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः ऋत्विजः) जिसमें यजुर्वेद जाननेवाले ऋत्विज, (ब्रह्माणः) और ब्राह्मण लोग (ऋग्भिः साम्ना अर्चन्ति) ऋचाओं और सामोंके द्वारा प्रभुकी अर्चना करते हैं। (यस्यां) जिस भूमिमें (इन्द्राय पातवे) इन्द्रको पीनेके लिये (ऋत्विजः सोमं युज्यन्ते) ऋत्विज लोक सोमका प्रयोग करते हैं। जहां इस तरहके यज्ञ चलते हैं वह हमारी पवित्र मातृभूमि है।

हमारी मातृभूमि अत्यंत पवित्र है। इसमें सर्वत्र ऋतुके अनुकूल यज्ञ होते हैं, लोग पवित्र होकर उन यज्ञोंमें जाते हैं और अपने जीवनोंको पवित्र करते हैं। जहां सर्वत्र यज्ञका पवित्र वायुमण्डल रहता है वह हमारी पवित्र अतः श्रेष्ठ मातृभूमि है। वही हमारी राष्ट्रकी उपास्य देवता है। हम इसके उपासक हैं।

धनका कोश धारण करनेवाली

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं
पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ अ. १२।१।४४

(बहुधा गुहा) बहुत तरहकी खानोंमें (वसु) धन, (मणिं) रत्न हीरा पन्ना आदि तथा (हिरण्यं) सोना चांदी आदि (निधिं बिभ्रती) संचित संपत्तिको धारण करनेवाली हमारी (पृथिवी) मातृभूमि वह संचय (मे ददातु) हमें देवे। यह (वसु-दा) धन देनेवाली, (रासमाना) दान देनेवाली (सुमनस्यमाना देवी) उत्तम मनवाली दिव्य मातृभूमि (नः वसूनि ददातु) हम सबको यथेष्ट धन देवे।

हमारी मातृभूमिमें रत्नोंकी अनेक खानें हैं, सुवर्ण आदि धातुओंकी खानें हैं। इस तरहके अनेक प्रकारके धनसंचय यह हमारी मातृभूमि हमें देती है। इस भूमिका स्वभाव ही धन देनेका है, यह धन देती है, अन्न देती है, फल फूल साग आदि देती है, नाना प्रकारके रस देती है। इनका सेवन करके हम सुखी होते हैं। ऐसी यह उत्तम प्रसन्न मनवाली हमारी मातृभूमि है। यह हमें सदा धन धान्य देती रहे और आनन्दित करती रहे।

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥
अ. १२।१।५९

(शन्तिवा) शान्तिदायक, (सुरभिः) सुगन्धयुक्त, (स्योना) सुख देनेवाली (कीलाल-ऊध्नी) अन्नरस देनेवाली, (पयस्वती) दूध आदि गोरससे युक्त (मे पृथिवी भूमिः) मेरी मातृभूमि (पयसा सह) दूधके साथ हमें (अधि ब्रवीतु) बुलावें। अर्थात् हमें उत्तम प्रकारके खाद्यपेय देवे।

इस तरह अथर्ववेदके काण्ड १२ के प्रथम सूक्तमें जो राष्ट्रगीत है, उसके कुछ मंत्र यहां दिये हैं। ये मंत्र नाना प्रसंगोंमें बोलनेके हैं, अर्थात् युद्धका प्रसंग, आनन्दमंगलका प्रसंग, महोत्सव और कठिन समस्या शत्रुपर आक्रमण, आपसका संगठन आदि विभिन्न प्रसंगोंमें बोलनेके लिये ये मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्रका अर्थ देखनेसे वह मंत्र किस प्रसंगमें बोलने योग्य है इसका ज्ञान हो सकता है। इसके सूचक शीर्षक भी दिये हैं। अब वेदमें अन्यान्य स्थानोंमें जो राष्ट्रगीतके मंत्र हैं उनमेंसे एक दो मंत्र यहां देते हैं—

राष्ट्रमें समृद्धि हो

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतां, आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां, दोग्ध्री धेनुः वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायतां, निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां, योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

वा० यजु. २२।२२

हे ईश्वर! हमारे राष्ट्रमें ज्ञानसे (ब्रह्मवर्चसी) तेजस्वी बने ब्राह्मण हों, हमारे राष्ट्रमें शूर अचूक शत्रुवेध करनेवाले महारथी क्षत्रिय हों, हमारे राष्ट्रमें (दोग्ध्री धेनुः) दुधारू गौवें हों, बोझ (वोढा अनड्वान्) खींचनेवाले बैल हों, (आशुः सप्ति) चपल घोडे हों और इन पशुओंका पालन करनेवाले उत्तम धनधान्यसंपन्न वैश्य हों, तथा उत्तम कर्ममें कुशल शूद्र हों। हमारे राष्ट्रमें (पुरंधिः योषा) स्त्रियां विशेष बुद्धिमती सुशीला और चारित्र्यसंपन्न हों, तथा नगरका (पुरं-धिः) संरक्षण करनेमें समर्थ वीर स्त्रियां हों। (जिष्णुः रथेष्ठा) विजयी रथमें बैठनेवाला (सभेयः युवा) सभामें संमान पानेवाला तरुण पुत्र यजमानके लिये हो। हमारे राष्ट्रमें ऐसे तरुण हों। हमारे राष्ट्रमें योग्य समयमें पर्जन्यकी वृष्टी होती रहे, औषधियाँ उत्तम फल फूल देती रहें और हम सबका योगक्षेम उत्तम रीतिसे हमारे राष्ट्रमें सदा चलता रहे।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नः कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

वा० यजु० १८।४८

हमारे राष्ट्रके ब्राह्मणोंमें तेज रहे, हमारे क्षत्रियोंमें तेज रहे, हमारे वैश्योंमें और शूद्रोंमें तेज रहे। हमारे राष्ट्रके ये सब लोग उत्तम तेजस्वी बनें, वीर्यवान बनें और इस तेजसे प्रत्येक मनुष्य भी तेजस्वी बने। हमारे राष्ट्रमें कोई भी निस्तेज, निर्वीर्य, निर्धन, कर्महीन दीन न हो। सब तेजस्वी, ओजस्वी, वर्चस्वी, मनस्वी बनें।

इस तरह राष्ट्रगीतके फुटकर मंत्र अन्यान्य वेदोंमें मिलते हैं।

इस राष्ट्रगीतकी विशेषता

प्रथम यह राष्ट्रगीत इतना बडा है यह देखकर लोग कहेंगे कि इतने बडे राष्ट्रगीतका पाठ किस तरह किया जा सकता है ? सब देशोंके राष्ट्रगीत, जो इस समय प्रचलित हैं वे दो मिनिटोंमें बोले जा सकते हैं। गायन करनेके लिये ३।४ मिनिट लगेंगे। पर इस राष्ट्रगीतके ६२ मंत्र केवल बोलनेके लिये आधा घण्टा लगेगा और गान करनेके लिये एक घण्टा लगेगा। इसलिये यह राष्ट्रगीत ही नहीं है।

इस विषयमें प्रथम यह कहना है कि इसका उपयोग 'ग्राम-पत्तन-राष्ट्र-रक्षणार्थ' करनेका विधान अति प्राचीन कालसे सर्व मान्य हुआ है। इस कारण उपयोग की दृष्टिसे यह राष्ट्रगीत है इसमें संदेह नहीं है। राष्ट्रीयभाव इसके प्रत्येक मंत्रमें स्पष्ट दीख रहा है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि यह बहुत लंबा है। तो इस विषयमें कहना इतना ही है कि इसके मंत्रोंके अनेक वर्ग हैं और एक एक वर्गके मंत्र एक एक प्रसंगमें बोले जानेके लिये हैं। जिस समय शत्रुपर आक्रमण करना होगा, उस समय बोलनेके मंत्र पृथक् हैं, वे ही उस समय बोलने होते हैं। यज्ञ करनेके समय, राष्ट्रीय महोत्सवके समय, शान्तिकर्मके समय, संघटना करनेके समय, एकता स्थापन करनेके समय इस तरह विभिन्न प्रसंगोंमें विभिन्न मंत्र जनसमुदायके द्वारा बोले जानेके लिये हैं। इन मंत्रोंपर जो शीर्षक है तथा

मंत्रोंका जो अर्थ दिया है, उसको देखनेसे यह बात स्पष्टतया विदित हो सकती है।

आजकलका इंग्रेजोंका राष्ट्रगीत 'गॉड सेव्ह दी किंग' अर्थात् 'प्रभु राजाकी सुरक्षा करे' यह जबतक इंग्लिशस्थानपर राजा राज्य करता है, तबतक यह गीत ठीक है, पर जिस समय वहां प्रजासत्ताक राज्य होगा, उस समय यह गीत बदलना पडेगा। इसी तरह अन्यान्य देशोंके राष्ट्रगीतोंकी स्थिति है। पर यह वैदिक राष्ट्रगीत ऐसा है कि, यह सब देशोंके सब कालोंके राष्ट्रोंके लिये सदा उपयोगी होगा। यह त्रिकालाबाधित है यह इसकी विशेषता है। पाठक इस विशेषताको मननपूर्वक देखें और इस दृष्टिसे इसका उपयोग जानें।

इस तरह यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत है। इतना उत्तम और बोधपूर्ण राष्ट्रगीत किसी भी दूसरे देशका नहीं है। यहां मातृभूमिकी उत्तम तथा स्पष्ट कल्पना है, राष्ट्रका रक्षण करनेके लिये लगनेवाले आवश्यक शुभगुणोंका निर्देश यहां है, मातृभूमिका यश बढानेका पूर्ण कार्यक्रम इसमें है। मातृभूमिके यशके लिये आत्मसर्वस्वका अर्पण करनेकी स्फूर्ति है। इतना बोधप्रद स्फूर्तिदायक, उत्साहवर्धक, कर्तव्य कर्म बतानेवाला राष्ट्रगीत वेदने दिया है। इससे सिद्ध हो सकता है कि वेद राष्ट्रीयताका उपदेश करता है। वेदधर्म राष्ट्रीयतासे दूर नहीं है॥

वेदमें इतना सर्वांग सुन्दर राष्ट्रगीत है यह बात सिद्ध होनेसे, वेदमें राष्ट्रशासन विषयक कई विषयोंका होना सिद्ध होसकता है। वेदमें अनेक विद्याएं हैं, उसमें राष्ट्रशासन विद्या भी है, उसका संक्षेपसे दिग्दर्शन इस राष्ट्रगीतने किया है।

इस राष्ट्रगीतको देखनेके पश्चात् राष्ट्रशासनका विचार करना अत्यंत ही आवश्यक है।

व्यक्तिमें शान्ति ! राष्ट्रमें शान्ति !! विश्वमें शान्ति हो !!!

प्रश्न

१ मातृभूमिकी स्पष्ट कल्पना जिन वेदमंत्रोंमें है, वे वेदमंत्र लिखकर उनका अर्थ लिखिये।

२ वैदिक राष्ट्रगीत किस वेदमें किस स्थानपर है ? और उसमें कितने मंत्र हैं ? अन्य वेदोंमें राष्ट्रगीतके मंत्र कहां और कितने हैं ?

३ प्रजाजन मातृभूमिके पुत्र हैं इस अर्थका एक मंत्र देकर उसका अर्थ लिखिये।

४ अनेकभाषी और अनेकधर्मी प्रजाजनोंका बन्धुभाव रखनेका उपदेश करनेवाला मंत्र लिखिये।

५ देवोंद्वारा बसाये नगरोंका वर्णन जहां हो वैसा मंत्र बताइये।

६ मातृभूमिका संरक्षण करना चाहिये ऐसा आदेश देनेवाले मंत्र लिखकर उनका अर्थ भी लिखिये।

७ मातृभूमिकी सेवा करनेका भाव किस मंत्रमें है ?

८ मातृभूमिका धारण जिन गुणोंसे होता है उन गुणोंका वर्णन करनेवाला मंत्र लिखकर उसका अर्थ बताइये ।

९ शत्रुनाश करनेका उपदेश करनेवाले कौनसे मंत्र हैं ?

१० मातृभूमिके लिये वंदना करनेवाले मंत्र कौनसे हैं ?

११ युद्धके ढोल किस मंत्रमें बजाये हैं ?

१२ अपने विजयकी प्रार्थना किस मंत्रमें है ?

१३ मैं अध्यक्ष बनूं यह आकांक्षा किस मंत्रमें है ?

१४ मातृभूमिके हितके लिये आत्मबलि अर्पण करनेवाला मंत्र कौनसा है ?

१५ हमारा पतन न हो ऐसी सावधानीकी सूचना करनेवाला मंत्र कौनसा है ?

१६ अपनी पवित्रता करनेका उपदेश देनेवाले मंत्र कौनसे हैं ?

१७ वृक्षोंका संरक्षण करनेका उपदेश करनेवाला मंत्र कौनसा है ?

१८ यज्ञका महत्त्व बतानेवाला मंत्र कौनसा है ?

१९ अपनी समृद्धि करनेका आदेश देनेवाले मंत्र कौनसे हैं ?

२० इस राष्ट्रगीतकी विशेषता कौनसी है ।

२१ आजकल प्रचलित विभिन्न राष्ट्रोंके राष्ट्रगीतोंके साथ इस राष्ट्रगीतकी तुलना कीजिये।

२२ इस राष्ट्रगीतमें आपके मतसे कौनसा एक मंत्र सबसे अच्छा है उसको लिखकर उसपर एक निबंध लिखिये ।